सम्पादक

मुनि धनंजयकुमार



जैन विश्व भारती प्रकाशन

लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज



आचार्य महाप्रज्ञ

ISB No. 81-7195-033-7

आर्थिक सौजन्य : स्व० श्री रामकुमार सरावगी एव
श्रीमती गगादेवी सरावगी, फरीदाबाद

तृतीय संस्करण : नवम्बर, १९९६

मूल्य : पचीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६ ।

LOKTANTRA . NAYA VYAKTI NAYA SAMAJ
Acharya Mahaprajna

Rs. 25.00

आशीर्वचन

विश्व के किसी भी कोने में कोई समस्या पैदा होती है, वह पूरे विश्व को प्रभावित कर सकती है । व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की समस्या का इतना प्रभाव हो सकता है तो उसके समाधान का प्रभाव क्यो नही होगा ? समस्या की तरह समाधान भी देश और काल की सीमाओ मे आबद्ध नही रहता । किन्तु वर्तमान युग की स्थिति कुछ विचित्र है । इस समय ऐसे व्यक्ति कम दिखाई देते हैं, जो समस्याओ से आहत होने के बजाए उनका समाधान खोज सकें और युग के प्रवाह को मोड सके ।

समस्या के दो रूप हैं—शाश्वत और युगीन । युगीन समस्याओ का समाधान युग के परिप्रेक्ष्य मे ही खोजा जा सकता है, फिर चाहे वह समस्या लोकतत्र की हो, धर्म निरपेक्षता की हो, आर्थिक महत्त्वाकांक्षा की हो, सम्प्रदायवाद की हो, अमीरी-गरीबी की हो या सुविधावादी दृष्टिकोण की हो । हमारे धर्मसघ मे ऐसे प्रश्नो पर भी गम्भीर चिन्तन होता रहता है । आचार्य महाप्रज्ञ शाश्वत मूल्यो के बारे मे जितना सोचते हैं, युगीन प्रश्नो के सदर्भ मे भी कम नही सोचते । उनकी अन्तर्दृष्टि जागृत है । केवल अध्ययन के वल से नही, उन्होने अपने प्रज्ञाबल से युगीन समस्याओ के समाधान खोजे हैं । खोज का सिलसिला जारी है । 'लोकतत्र . नया व्यक्ति नया समाज' महाप्रज्ञ के ऐसे ही निबन्धो का संकलन है । प्रस्तुत कृति अपने पाठको की चेतना को झकझोरने, उनकी प्रज्ञा जगाने, तीसरी आंख खोलने और युगीन समस्याओ के समाधान खोजने मे निमित्त बने, यही इसके सृजन एव सकलन मे लगे क्षणो की सार्थकता है ।

—गणाधिपति तुलसी

प्रस्तुति

गणित की भाषा मे एक और एक का योग होता है—दो। व्यवस्था की भाषा मे एक और एक का योग होता है—तन्त्र। तंत्र पर के सापेक्ष में बना हुआ है। यदि आदमी पर-तन्त्र—पर के तन्त्र मे नही होता उसे स्व-तन्त्र—अपने तन्त्र की अपेक्षा नही होती।

समाज और तन्त्र—दोनो मे गहरा अनुबन्ध है। समाज का कोई भी सदस्य असीम नही रह सकता। प्रत्येक के लिए जरूरी है सीमा और सीमा को बनाए रखने के लिए जरूरी है तन्त्र। कुल से लेकर लोकतन्त्र तक तन्त्र ने लम्बी यात्रा की है। वर्तमान का चिन्तन है कि तन्त्र के इतिहास मे लोकतन्त्र सर्वोत्तम विकल्प है। क्या वास्तव में लोक का तन्त्र है। इस यक्ष प्रश्न का उत्तर कौन देगा ?

इस अनुत्तर के क्षण मे न पुराना मनुष्य अस्तित्व मे है और न नए मनुष्य का जन्म हुआ है। न पुराना समाज श्वास ले रहा है और न नए समाज का बीज अकुरित हुआ है। इस सन्धि-वेला मे जरूरत है त्याग की और जरूरी है त्यागी। जरूरत है तप की और जरूरी है तपस्वी। जरूरत है अहिंसा की और जरूरी है अहिंसक। जरूरत है अपरिग्रह की और जरूरी है अपरिग्रही।

धन की लालसा ने प्रत्येक क्षेत्र की पवित्रता को विखण्डित किया है। इस विखण्डता ने त्यागी, तपस्वी, अहिंसक और अपरिग्रही कहलाने वाले साधु-सन्यासियों को भी अपनी चपेट में ले लिया है। कैसे आशा की जा सकती है कि व्यवसायी, उद्योगपति और राजनीति के कर्णधार उसकी चपेट में न आएं ? यह कैसे संभव है कि परिग्रह की आग पर रखा हुआ जल गर्म न हो, समाज हिंसा और आतंक से उद्वेलित न हो ?

गणाधिपति तुलसी ने भारतीय लोकतंत्र के उद्भव क्षणो मे

अणुव्रत का अभियान शुरू किया था। आशय यह था—जनता और जन-सेवक—दोनो व्रती बनें, लोक का तन्त्र सही अर्थ मे अपना उद्देश्य पूरा कर सके। आशय पूरा हो सकता है यदि धर्म, राजनीति और बुद्धिजीवी वर्ग के लोग परस्पर मिलकर व्यवस्था परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन की धारा को प्रवाहित करने का सकल्प ले। यह एक उपाय है, जिसका प्रयोग कर लोकतन्त्र को उसकी आत्मवेदी पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे मुनि धनजयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादकीय

○ बहुधा पूछते हैं एक प्रश्न
आचार्य महाप्रज्ञ
करते है सवाद
जनता के साथ ।
कितनी है इस देश की जनसख्या ?
उत्तर मिलता है—अस्सी करोड
कितने हैं धार्मिक ?
उभरता है स्वर—साठ-सत्तर करोड
ईमानदार और नैतिक ?
हो जाते हैं सब अवाक् ।
महाप्रज्ञ कहते हैं—
उनकी सख्या करोड़ों मे नही,
शायद लाखो मे भी नही है
यह कैसी विडम्बना है ?
व्यक्ति धार्मिक है पर नैतिक नही,
धार्मिक है पर ईमानदार नही
कैसे हैं वे धार्मिक ?
जो धार्मिक भी हैं और अनैतिक भी ।

○ कुछ वर्ष पहले सोवियत संघ मे
एक प्रखर स्वर उभरा—
हमे मार्क्स नही चाहिए
हमे ईसा भी नही चाहिए
हमे वह चाहिए
जो ईसा भी हो, मार्क्स भी हो ।

○ सन् १९८९
आचार्यश्री तुलसी का अनूठा अभिक्रम
योगक्षेम वर्ष

अभिनव प्रकल्प
महान् संकल्प—
ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण
जो न केवल आध्यात्मिक
न केवल वैज्ञानिक
किंतु हो आध्यात्मिक-वैज्ञानिक ।

० आज एक नए मनुष्य की जरूरत है
जो नैतिकता से सम्पन्न धार्मिक हो ।
आध्यात्मिक+वैज्ञानिक हो,
ईसा+मार्क्स हो ।

० महाप्रज्ञ का प्रस्तुत ग्रन्थ
लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज
मौलिक चिन्तन
मौलिक अवदान
नया प्रकल्प
नया विकल्प
जिसका सकल्प है—
नए व्यक्ति का जन्म
नए समाज का उदय
नए विश्व का अभ्युदय
जो बन जाए
युग के लिए वरदान
लोकतन्त्र का प्रतिमान ।

२१-९-९३
नाहर भवन
राजलदेसर

—मनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

१. लोकतंत्र और धर्म-निरपेक्षता

विचार सप्रेषण का सर्वाधिक शक्तिशाली और व्यापक माध्यम है शब्द। सही अर्थ मे प्रयुक्त शब्द क्राति को जन्म देता है। गलत अर्थ मे प्रयुक्त शब्द भ्राति को जन्म देता है। कुछ शब्दो का प्रयोग व्यापक स्तर पर भ्रांति पैदा कर रहा है। जैसे—

- राजनीति के सदर्भ मे धर्म
- लोकतत्र के संदर्भ मे धर्म-निरपेक्ष
- विधि के सदर्भ मे अल्पसख्यक और वहुसख्यक
- हिन्दू धर्म
- सर्वधर्म समभाव

१. धर्म और राजनीति

नीति के तीन विभाग प्राचीन काल से विश्रुत है- समाज-नीति, राजनीति और धर्मनीति। आधुनिक सदर्भ मे चौथा विभाग हो सकता है—अर्थनीति। समाज, राज धर्म और अर्थ—सव अपने-अपने नय के साथ चलते हैं और अपने-अपने लक्ष्य तक पहुचाने की सवमे शक्ति है इसलिए इन्हे नीति कहा गया है।

समाजनीति का लक्ष्य है—सगठित शक्ति का उपयोग और परस्परता का विकास।

राजनीति का लक्ष्य है- अपने क्षेत्र मे रहने वाले नागरिको की सुरक्षा, आजीविका, शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था करना, अपराध की रोकथाम और हित का सपादन करना।

धर्मनीति का लक्ष्य है—परमार्थ की चेतना को जगाना, आत्मा से परमात्मा होने की दिशा मे प्रस्थान कराना अथवा परमात्मा के साथ सम्वन्ध स्थापित कराना।

अर्थनीति का लक्ष्य है - प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता पूर्ति की साधन सामग्री उपलब्ध कराना।

इन चारो नीतियो का परस्पर सम्वन्ध है, पर ये एक दूसरे के द्वारा शासित अथवा सचालित नही हैं।

समाजधर्म आत्मधर्म

भारतीय चिंतन में त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थ चतुष्टयी की कल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण है। त्रिवर्ग सिद्धांत मे काम, अर्थ और धर्म — ये तीन पुरुषार्थ सम्मत है। पुरुषार्थ चतुष्टयी मे काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष — ये चार पुरुषार्थ मान्य है। त्रिवर्ग सम्मत धर्म समाज-धर्म है। उसका अर्थ न्याय और व्यवस्था है। त्रिवर्ग मे मोक्ष नही है इसलिए उसमे मोक्षधर्म अथवा आत्मधर्म की कल्पना नही की जा सकती। पुरुषार्थ चतुष्टयी मे धर्म का अर्थ बदलता है। वहा मोक्ष अथवा आत्मा से परमात्मा होने का सिद्धात स्वीकृत है, इसलिए धर्म का अर्थ हो जाता है परमात्मा होने की साधना, परम तत्त्व अथवा परम अर्थ की साधना।

शब्द एक अर्थ अनेक

धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते है—

१. प्रकृति का नियम
२ मान्यता
३. विश्वास
४ सामाजिक आधार
५. शिष्टाचार
६ रीति-रिवाज
७. सामाजिक नियम
८ कानून
९. नैतिक नियम
१०. चरित्र
११. सम्प्रदाय, मत आदि-आदि।

धर्म शब्द का अनेक अर्थो मे प्रयोग हुआ है। उसका काल-क्रमिक इतिहास है। इस अनेकार्थकता ने अनेक भ्रांतिया भी उत्पन्न की हैं। समाज-व्यवस्था के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज-व्यवस्था को विशुद्ध बनाने वाले चरित्र और नैतिक नियम का नाम भी धर्म है।

दो विचारधाराएं

धर्म का मुख्य लक्ष्य है आत्मोपलब्धि, परमात्मपद की प्राप्ति अथवा मोक्ष। क्या मोक्षधर्म के द्वारा समाज और राज्य की व्यवस्था सचालित या शासित हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर मे दो विचारधाराए सामने आती हैं। एक विचारधारा है कि समाज और राज्य की व्यवस्था मोक्षधर्म के द्वारा सचालित या शासित होनी चाहिए। दूसरी विचारधारा है कि समाज और राज्य की

व्यवस्था मोक्षधर्म के द्वारा सचालित या शासित नही हो सकती। वह समाज और राज्यधर्म के द्वारा ही सचालित या शासित होनी चाहिए। इसका हेतु है लक्ष्य की भिन्नता। दो भिन्न लक्ष्यों की पूर्ति एक साधन से नही हो सकती।

जिस विचारधारा मे समाज और राज्य की व्यवस्था तथा धर्म की साधना मे भिन्नता नही है, वहा समाज और राज्य की व्यवस्था के नियम और धर्म की आचार-सहिता मे भेद नही होता, इसीलिए वहा धर्म और कानून के बीच कोई भेदरेखा नही खीची जा सकती।

धर्मनीति और राजनीति की दिशाए

धर्म की धारणा सबकी समान नही होती। राज्य की धारणा सबके लिए समान है। एक राज्य मे अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। यदि राज्य की व्यवस्था धर्म के द्वारा सचालित या शासित हो तो किस धर्म के द्वारा शासित हो, यह प्रश्न सहज ही उभर आएगा। इसका उत्तर सरल नही है। चारित्रात्मक धर्म सबका समान है इसलिए उसके द्वारा राज्य की व्यवस्था सचालित हो सकती है, यह स्थापना भी सर्वथा निर्विवाद नही है। राज्य मे कुछ लोग शाकाहारी होते है और कुछ मासाहारी। कुछ शराब की वर्जना करने वाले होते है और कुछ शराब पीने वाले भी होते हैं। राज्य मास और शराब की भी व्यवस्था करता है। विवाह सस्था के नियम भी सब धर्मों के समान नही हैं। एक राज्य मे कानून प्रत्येक नागरिक के लिए समान होता है, धर्म की अवधारणा सबकी समान नही होती। निवृत्ति प्रधान धर्म विवाह आदि सस्कारो का विधान नही करता। प्रवृत्ति प्रधान धर्म जन्म, विवाह आदि सभी सस्कारो का विधान करते है। धर्म के क्षेत्र मे ऋजुता मान्य है। राज्य व्यवस्था के लिए कूटनीति भी प्रयोजनीय है। ऐसे अनेक प्रसग है, जहा धर्मनीति और राजनीति की दिशाए भिन्न होती है। इस दिशाभेद के आधार पर यह सिद्धात फलित होता है कि राज्य-व्यवस्था धर्म से सचालित या शासित नही हो सकती।

क्या धर्मविहीन राजनीति और राज्य-व्यवस्था खतरनाक नही होगी ? इस प्रश्न का उत्तर विभज्यवाद के आधार पर ही दिया जा सकता है। साम्प्रदायिक कट्टरता वाले धर्म से विहीन

राजनीति और राज्य-व्यवस्था खतरनाक नहीं होती। वह राजनीति या राज्य-व्यवस्था खतरनाक होती है, जो अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता रूपी चरित्र धर्म से प्रभावित नही होती।

धर्म के दस प्रकार

भगवान् महावीर ने धर्म के दस प्रकार बतलाए हैं—

१. ग्रामधर्म—ग्राम व्यवस्था की आचार-संहिता।

२ नगरधर्म—नगरपालिका की आचार-संहिता।

३ गणधर्म—गणराज्य की आचार-संहिता।

४. राष्ट्रधर्म—राष्ट्र की आचार-संहिता।

५. कुलधर्म—कुल की आचार-संहिता।

६. संघधर्म—संघ—गण समूह की आचार-संहिता।

७. पाषण्डधर्म—विविध सम्प्रदायो द्वारा सम्मत आचार-व्यवस्था।

८-९. श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—मोक्ष के साधक, आत्म-उत्थान के हेतुभूत तत्त्व।

१० अस्तिकायधर्म—पचास्तिकाय का स्वभाव।

इनमे श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—ये आध्यात्मिक धर्म है। ग्रामधर्म, नगरधर्म आदि व्यवस्थात्मक धर्म है। ग्राम और नगर की व्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ग्राम और नगरधर्म से है, परोक्ष सम्बन्ध आध्यात्मिक धर्म से है। आध्यात्मिक धर्म से व्यवस्था का संचालन नही होता, व्यवस्था का विशोधन होता है। वह समाज-व्यवस्था अच्छी होती है, जिसका सचालन समाजधर्म अथवा समाज की आचार-संहिता से होता है। वह राज्य-व्यवस्था अच्छी होती है, जिसका सचालन राज्यधर्म अथवा राज्य की आचार-संहिता से होता है।

२. धर्म-निरपेक्ष

हिन्दुस्तान लोकतान्त्रिक देश है। सविधान में उसे सेक्युलर स्टेट माना गया है। इसका अनुवाद किया गया धर्म-निरपेक्ष राज्य। इस धर्म-निरपेक्ष शब्द ने पुरानी पीढी के मन में एक विद्रोह की भावना पैदा की और नई पीढ़ी के मन में एक भ्रांति को जन्म दिया। लोकतन्त्र मे राज्य का शासन किसी सम्प्रदाय विशेष के हाथ

मे नही होता। वह सम्प्रदायातीत अथवा असाम्प्रदायिक होता है। इस उदात्त भावना को धर्म-निरपेक्ष शब्द अभिव्यक्ति नही दे सका, फलत भ्राति पैदा हो गई। आचार्य तुलसी ने तत्कालीन प्रधानमत्री राजीव गाधी से धर्म-निरपेक्ष शब्द को बदलने की बात कही और सुझाव दिया—'धर्म-निरपेक्ष के स्थान पर सम्प्रदाय-निरपेक्ष अथवा पथ-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया जाए।' अभी जो सविधान का हिन्दी अनुवाद मुद्रित हुआ है, उसमे सेक्युलर का अर्थ पथ-निरपेक्ष किया गया है।

लोकतन्त्रीय राष्ट्र पर किसी सम्प्रदाय अथवा पथ का आधिपत्य हो तो वह अपने लोकतन्त्रीय स्वरूप को सुरक्षित नही रख सकता। इसलिए लोकतन्त्रीय राष्ट्र का सम्प्रदाय अथवा पथ-निरपेक्ष होना अनिवार्य है। सम्प्रदाय-निरपेक्ष होने का तात्पर्य धर्म-निरपेक्ष, धर्महीन अथवा धर्मविरोधी होना नही है। कोई भी राष्ट्र किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के द्वारा शासित हुआ है, तब जनता के साथ न्याय नही हो सका, अपने प्रतिपक्षी धर्मो के साथ अन्याय हुआ। सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया। गेलेलियो को फासी दी गई। गाधी और मार्टिन लूथर किंग की हत्या की गई। साम्प्रदायिक कट्टरता मे सहिष्णुता नही होती। वह अपने से भिन्न विचार को सहन करना जानती ही नही है, इसीलिए यह विचार मन को आकर्षित करता है कि राजनीति किसी सम्प्रदाय विशेष की अवधारणा से सचालित नही होनी चाहिए।

३ हिन्दू धर्म

आज जिस भूखण्ड का नाम हिन्दुस्तान है, प्राचीनकाल मे उसका नाम भारत या भारतवर्ष था। ऋषभपुत्र भरत के नाम से उसका भारत नामकरण किया गया। पारस (वर्तमान ईरान) आदि मध्य एशियाई देशो के सम्पर्क के कारण इसका नाम हिन्दु देश प्रचलित हुआ। आचार्य कालक ने कहा—आओ! हम हिन्दु देश चले—**एहि हिन्दुकदेसं वच्चामो**। यह निशीथचूर्णि का प्रयोग है। भारतीय साहित्य के उल्लेखो मे यह सबसे प्राचीन है। पारसी सम्राट् दारा महान् (छठी शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखो मे सिंधु प्रदेशो के लिए हिन्दु शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे राजस्थान आदि कुछ प्रदेशो मे 'स' का उच्चारण 'ह' किया जाता है, वैसे ही

प्राचीन फारसी बोली मे भी 'स' का उच्चारण 'ह' होता था। पारसी लोग 'सप्तसिन्धु' का उच्चारण 'हप्तहिन्दु' करते थे। मूल प्रकृति के अनुसार हिन्दु शब्द देश या राष्ट्र का वाचक है। वह किसी धर्म का वाचक नही है।

भारतवर्ष मे चिरकाल से धर्म की दो धाराए प्रवाहित रही श्रमण और वैदिक। श्रमण परम्परा का तन्त्र क्षत्रियो के हाथ मे था। वैदिक परम्परा का सूत्रधार ब्राह्मण वर्ग था। साख्य, जैन, बौद्ध और आजीवक ये सब श्रमण परम्परा के धर्म है। मीमासा, वेदान्त—ये वैदिक परम्परा के धर्म है। हिन्दु नाम का कोई भी प्राचीन धर्म नही है। मुसलमानो के आगमन के पश्चात् हिन्दु और मुसलमान पक्ष और प्रतिपक्ष बन गए। प्राचीनकाल मे श्रमण और ब्राह्मण पक्ष और प्रतिपक्ष मे प्रतिष्ठित थे। सस्कृत व्याकरणकारो ने श्रमण और ब्राह्मण का नित्य विरोधी के रूप मे उल्लेख किया है। आधुनिक काल मे श्रमण और ब्राह्मण का विरोध मन्द हो गया, उसका स्थान हिन्दु और मुसलमान ने ले लिया। एक श्रमण ब्राह्मण धर्म मे दीक्षित हो जाता और एक ब्राह्मण श्रमण धर्म मे दीक्षित हो जाता, उससे कोई जाति-परिवर्तन नही होता। हिन्दु और मुसलमान मे कोरा धर्म सम्प्रदाय का भेद ही नही है, जातिभेद भी है। जातिभेद के आधार पर हिन्दु और मुसलमान शब्द प्रचलित हुआ। उसका प्रभाव धर्म की धारणा पर भी पडा। फलतः हिन्दु धर्म जैसा शब्द भी प्रचलित हो गया।

क्या जैन हिन्दु हैं ?

आधुनिक युग मे धर्म का वर्गीकरण सनातन, वैष्णव, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त आदि रूपो मे रहा। हिन्दु धर्म की व्याख्या वैदिक धर्म के रूप मे की गई, तब जैन, बौद्ध, शैव, सिख आदि उस धारा से भिन्न हो गए। हिन्दु शब्द यदि राष्ट्र और जाति का वाचक रहे तो जैन, बौद्ध आदि सभी हिन्दु शब्द के द्वारा वाच्य हो सकते है। किसी के सामने कोई उलझन नही होनी चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने एक बार कहा था—हिन्दुस्तान मे रहने वाला प्रत्येक नागरिक हिन्दु है। धर्म या मजहब की दृष्टि से भले फिर वह ईसाई हो, इस्लाम का अनुयायी हो, पारसी अथवा और कोई भी हो। 'हिन्दु धर्म', इस शब्द ने हिन्दुत्व को सकुचित बना दिया। केवल

मुसलमान, ईसाई और पारसी ही हिन्दुत्व से पृथक् नही हुए है, जैन, बौद्ध और सिख भी उससे पृथक् हुए है ? पूना के कुछ पडितो ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—जैन हिन्दु हैं या नही ? आचार्यश्री ने उत्तर मे कहा—यदि आप हिन्दु का अर्थ वैदिक परम्परा का अनुयायी करते हैं तो जैन हिन्दु नही हैं और यदि हिन्दु का अर्थ राष्ट्रीयता से है तो जैन हिन्दु हैं ।

हिन्दु शब्द : व्यापक अर्थ

हिन्दु शब्द व्यापक अर्थ मे भारत का पर्यायवाची है । सिन्धु नदी से उपलक्षित होने के कारण यह हिन्दु देश कहलाया और इसी आधार पर इसका नाम हिन्दुस्तान हुआ । इस व्यापक सन्दर्भ मे हिन्दुस्तान का प्रत्येक नागरिक हिन्दु कहलाए, इसमे कोई प्रतिवाद नही होना चाहिए किंतु हिन्दु एक जाति वन नई, इसे भी अस्वीकार नही किया जा सकता । नेपाल हिन्दु राष्ट्र है । वहा हिन्दु अधिक सख्या मे है । विश्व के अनेक देशो मे हिन्दु रहते हैं । उनमे कुछ हिन्दुस्तान के नागरिक है और कुछ अन्य राष्ट्रो के नागरिक । इसलिए हिन्दु एक जाति भी है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता । हिन्दु जाति का मूल आधार देश या राष्ट्र ही है । विश्व के किसी भी कोने मे जो हिन्दु है, उसका मूल हिन्दुस्तान रहा है इसलिए उनका वर्तमान अतीत से जुडा हुआ है । इस प्रकार राष्ट्र और जाति—दोनो के वीच एक सरल अनुवन्ध और सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

सबसे अच्छा है, हम हिन्दु शब्द को राष्ट्र के साथ अनुवन्धित करें । उससे आगे बढ़ना चाहे तो उसे जाति के साथ अनुवन्धित करें । इससे आगे न बढे । पहला विकल्प व्यापक है दूसरा विकल्प व्यापकता को सीमित करता है । उससे तीसरे विकल्प की ओर वढना एक आदमकद शीशे को शत खण्ड करना है, जिसमे अपना प्रतिविम्व भी नही देखा जा सकता ।

४. अल्पसख्यक . वहुसख्यक

शब्दार्थ की दृष्टि से अल्पसख्यक और वहुसख्यक—दोनो शब्द सार्थक हैं किंतु राजनीतिक सदर्भ मे दोनो वहुत त्रुटिपूर्ण हैं । राजनीति के क्षेत्र मे इन शब्दो का सदुपयोग कम हुआ है, अधिकाशत. दुरुपयोग हुआ है । उत्तेजना फैलाने और हिंसा भड़काने

मे ये शब्द वाहक बने है। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक नागरिकता की दृष्टि से समान होता है। जब हम अल्पसख्यक और बहुसंख्यक प्रयोग करते है, तब राष्ट्र को गौण, जातीयता और प्रातीयता को प्रधान बना देते हैं। मुसलमान इस्लाम के अनुयायी हैं। हिन्दुस्तान मे इस्लाम के अनुयायी अल्पसख्या मे है और उसे न मानने वाले अधिक सख्या मे। इस अल्पसख्यकता और बहुसख्यकता का आधार धर्म-सम्प्रदाय है, राष्ट्रीयता नही। राष्ट्रीयता की दृष्टि से न कोई अल्पसख्यक है और न कोई बहुसख्यक। अल्पसंख्यक को वही अधिकार प्राप्त है, जो बहुसख्यक को है और बहुसख्यक को वही अधिकार प्राप्त है, जो अल्पसंख्यक को है। धार्मिक विश्वास के आधार पर जैन और बौद्ध भी अल्पसख्यक है। वैदिक धर्म भी अनेक सम्प्रदायो में विभक्त है। बहुसंख्यक कौन है, यह निष्कर्ष निकालना सरल नही है। राष्ट्रीय मंच पर अल्पसख्यक और बहु-संख्यक का प्रयोग न हो, यह राष्ट्र के हित मे है।

५. सर्वधर्म-समभाव

इस प्रयोग मे समभाव शब्द अस्पष्ट है। उससे भ्रात धारणा जन्म लेती है। समभाव का अर्थ यदि सबको समान मानना है तो वह यथार्थ से परे है। प्रत्येक धर्म की धारणा मे भेद है तो उन धर्मों के प्रति समानता की बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ? समभाव का अर्थ यदि विभिन्न धर्मों की विभिन्न धारणाओ के प्रति अपना दृष्टिकोण समतापूर्ण रखना है तो समभाव के स्थान पर सर्वधर्म सहिष्णुता का प्रयोग अधिक सार्थक हो सकता है। हम अपने से भिन्न विचार के प्रति असहिष्णु न बने, यह साम्प्रदायिक उत्तेजना को रोकने का बीजमत्र है। वैचारिक असहिष्णुता ही साम्प्रदायिक झगड़ो को उत्पन्न करती है, इसलिए सर्वधर्म सहिष्णुता का पाठ हमारे लिए अधिक श्रेयस्कर हो सकता है।

जैन दर्शन में निक्षेप पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका तात्पर्यार्थ है—शब्द प्रयोग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण। शब्द का वह प्रयोग वाछनीय होता है, जो प्रतिनियत अर्थ को प्रकाशित करे। उसमे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के लिए अवकाश न हो, वह सशय और भ्रम को जन्म न दे। हमारी सफलता और विफलता शब्द और अर्थ की परिक्रमा कर रही है इसलिए शब्द-प्रयोग के प्रति हमारी जागरूकता नितांत स्पृहणीय है।

२. लोकतंत्र : समस्या भी समाधान भी

हमारी दुनिया की एक विशेषता यह है कि इसमे कोई परि-पूर्ण नही है । यदि मनुष्य या पदार्थ परिपूर्ण होता तो ये दो शब्द गठित नही होते । 'समस्या और समाधान'—ये दो शब्द इसीलिए गढे गये हैं कि सब अपूर्ण है । पानी प्यास बुझा देता है पर भूख नही मिटा सकता । रोटी भूख मिटा देती है पर प्यास नही बुझा सकती । दोनो शक्तिया किसी एक मे नही है। हर व्यक्ति एक-एक काम करता है और हर पदार्थ भी एक-एक काम करता है । इसीलिए सापेक्ष है हमारा जीवन और सापेक्ष है हमारी व्यवस्था । अगर शासक सब कुछ कर दे तो शासित के होने की जरूरत नही । यदि व्यक्ति अकेला होता तो कोई समस्या नही होती और समाधान की जरूरत नही होती, पर अकेला भी समस्या से मुक्त नही है । अकेले मे भी सुख कहा है ? जब तक व्यक्ति अहमिन्द्र बनकर उत्कृष्ट सुख की भूमिका मे नही पहुच जाता तब तक अकेला रहना भी भयकर बन जाता है ।

दो केन्द्र

समाचार पत्र मे पढा—वैज्ञानिको ने मस्तिष्क के दो केन्द्र खोज लिए हैं । एक केन्द्र है सुख का और एक केन्द्र है दुःख का । जैन दर्शन की भाषा मे कहा जा सकता है—एक केन्द्र है सातवेदनीय का और एक केन्द्र है असातवेदनीय का । दो श्रेणी मे बन्दरो को बाटा गया । एक श्रेणी के बन्दरो को इलेक्ट्रोड सुख के केन्द्र पर लगाना सिखाया । उसे इतना सुख मिला कि वह खाना-पीना भूल गया । वह बार-बार इलेक्ट्रोड लगाता है और आनन्दमग्न हो जाता है । दूसरी श्रेणी के बदरो के व्यथा केन्द्र पर इलेक्ट्रोड लगाये, वे बेचारे दु खी हो गये, व्यथित हो गये । इधर-उधर भटकने की चेष्टा करने लगे । दोनो केन्द्र पकड लिये गये । कल्पना करे—आदमी अकेला बैठा है और ध्यान व्यथा के केन्द्र पर केन्द्रित हो गया तो वह दुःख से भर जायेगा । अकेला होने से भी समस्या

का समाधान नही है और दो होने से भी समस्या का समाधान नही है।

अपूर्णता की समस्या

जब तक यह अपूर्णता की समस्या है, जब तक शिव, अचल, अमर और अरुज वाली स्थिति नही बनती तब तक समस्या और समाधान– दोनो बाते साथ-साथ चलेंगी। तंत्र का होना भी समस्या है और तंत्र का न होना भी समस्या है। हम यह मानकर चले कि यदि हमे जीना है तो समस्या और समाधान—दोनो के बीच जीना है।

लोकतन्त्र का प्राणतत्त्व

मनुष्य समस्या और समाधान—दोनो के बीच मे जी रहा है फिर भी वह प्रयत्न करता है कि समस्याए कम हो और समाधान ज्यादा हो। इस दिशा मे प्रयत्न करते-करते लोकतंत्र का उदय हुआ। अनेक तंत्र बने। पहले कुलतंत्र बना। अनेक कुल थे। प्रत्येक कुल का मुखिया उसका अधिशास्ता था। फिर राजतंत्र आया। एक राजा बना और सारी प्रजा बनी। राजतंत्र बहुत लम्बे समय तक चला। विश्व के इतिहास मे चिरकाल तक जीने वाला है राजतंत्र। प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक चला। अभी तक भी कही-कही राजतंत्र चल रहा है। इसके बाद आया अधिनायकतंत्र। न लोकतंत्र, न राजतंत्र। किसी सैनिक ने, किसी शक्तिशाली नेता ने क्राति की और सारी सत्ता अपने हाथ मे ले ली।

वर्तमान युग लोकतंत्र का है। लोकतंत्र में सब समान है। जाति, रग और सम्प्रदाय कोई बाधा नही है। किस रग का आदमी है, किस जाति का है या किस सम्प्रदाय का है, इसका कोई प्रश्न नही। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त है। यह समानता का सूत्र लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है, मूल आधार है। इसीलिए राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने कहा था – आज का लोकतंत्र महावीर के सिद्धातो पर आधारित है। इसका कारण है – सापेक्षता, समानता, सह-अस्तित्व और स्वतंत्रता। अनेकात सिद्धात के चार मुख्य फलित होते हैं—स्वतंत्र, सापेक्षता, समानता और सह-अस्तित्व।

ये चारो लोकतन्त्र के सिद्धात भी बन जाते है। यह कहा जा सकता है - भगवान् महावीर ने जो अनेकात का दर्शन दिया था, वह आज लोकतन्त्र मे सामाजिक रूप मे फलित हो रहा है। वह एक तत्त्वज्ञान का दर्शन है। उसका व्यावहारिक रूप है—सामाजिक प्रणाली।

अनेकात और लोकतन्त्र

भगवान् महावीर राजतन्त्र की परम्परा मे नही जन्मे थे। उनका जन्म गणतन्त्र की परम्परा मे हुआ था। गणतन्त्र की परम्परा के प्रभाव को हम ऐतिहासिक दृष्टि से अस्वीकार कैसे करेंगे ? हमे स्वीकार करना होगा - गणतन्त्रीय परम्परा का भगवान् महावीर पर प्रभाव था। उसी का तात्त्विक रूप बन गया—अनेकान्तवाद, व्यावहारिक रूप बन गया - गणतन्त्र और आज की भाषा मे उसे कहा गया—लोकतन्त्र। सिद्धात वे ही हैं। जो सिद्धात अनेकात के हैं, वे ही लोकतन्त्र के हैं।

समानता

जैन दर्शन ने समानता का सिद्धात प्रस्तुत किया—प्रत्येक प्राणी समान है। लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धात है—प्रत्येक नागरिक समान है। जहा इस समानता के सिद्धात का अतिक्रमण होता है वहा विरोध और विद्रोह की स्थिति बन जाती है। समस्या यह है—व्यक्ति दूसरे के अधिकार को मान्यता देना नही चाहता। जहा यह समस्या होती है वहा लोकतन्त्र विकसित नही हो सकता। जहा असमानता की चेतना प्रवल होती है, वहा असहिष्णुता को पनपने का अवसर मिलता है। जव असहिष्णुता का भाव प्रखर बनता है, मानवीय सबध बिखरने लग जाते है। मानवीय सवधो का बिखराव लोकतन्त्र के स्वास्थ्य को लील जाता है। जहा समानता है, वहा सहिष्णुता है। जहा सह-अस्तित्व है वहा भी सहिष्णुता का होना जरूरी है किंतु सहिष्णुता का विकास समानता की चेतना के उन्नयन से ही सभव है।

लोकतन्त्र को आज इसीलिये महत्त्व मिला कि उसमे समानता का सिद्धात प्रतिष्ठित है। वह प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय है। प्रत्येक व्यक्ति समानता की भूमिका मे रहना पसन्द करता है। जहा भी

थोड़ी असमानता आती है, चित्त मे उद्वेग और विक्षोभ पैदा हो जाता है इसीलिए समानता को आधार मिल रहा है ।

यह निश्चित तथ्य है कि इतना अच्छा होते हुये भी लोकतत्र परिपूर्ण नही है । परिपूर्ण तो निरपेक्ष अवस्था मे ही हो सकता है । आत्मा के असख्य प्रदेश है । वे परिपूर्ण है कितु आत्मा मनुष्य वन गई, वह परिपूर्ण नही है क्योकि वह सापेक्ष है । जो असख्य प्रदेश हैं, वे निरपेक्ष हैं । वह आत्मा की सत्ता है । वेदात का ब्रह्म निरपेक्ष है, परिपूर्ण है कितु माया और प्रपच परिपूर्ण नही हो सकता । जहा परिपूर्णता नही है, वहा समस्या और समाधान—दोनो साथ-साथ चलेंगे ।

लोकतंत्र की समस्या

लोकतत्र की अपनी समस्याए भी हैं । सवसे पहली समस्या है—अक्षमता का शासन । कारण यह है—प्रकृति मे एक ऐसी वात आ गई कि जहा समानता की वात है वहा व्यक्ति सख्या पर अधिक केन्द्रित होगा, गुणवत्ता पर कम होगा । इस पर ध्यान केन्द्रित नही होगा—सव गुणवान् आये कितु यह चिन्तन प्रवल होगा—सख्या मे सवसे ज्यादा हो । दो उम्मीदवार खडे हो गये । एक चरित्रवान् है, गुणवान् है, भ्रष्टाचार नही करता है, अनैतिक तरीके काम मे नही लेता है, न झूठे आश्वास न देता है । दूसरा सव तिकडम जानता है । वोट जुटाने मे तिकड़मवाज सक्षम वनेगा । उसे ज्यादा मत मिलेंगे और वह लोकतत्र का रक्षक वन जायेगा । जहां पर यह प्रवृत्ति है, वहां सख्या को अधिक महत्त्व नही मिलता है, गुणवत्ता को नही । जहा गुणवत्ता को महत्त्व नही मिलता वहा अक्षम व्यक्ति भी मुख्य हो जाता है । दस सक्षम व्यक्ति पूरे शासन को ठीक चला सकते हैं कितु सौ अक्षम आदमी शासन को कुछ भी नही चला सकते । लोकतन्त्र के साथ जो अक्षमता का अभिशाप जुडा हुआ है, उसमे संख्या का महत्त्व है, गुणवत्ता के लिये कोई अवकाश नही है । यह लोकतन्त्र की एक दुर्वलता है, समस्या है ।

विकेंद्रित उत्तरदायित्व

लोकतन्त्र की दूसरी समस्या है—उत्तरदायित्व का केन्द्रित न होना । एक राजा है । उसे किसी समस्या के सन्दर्भ मे निर्णय लेना

है तो वह पाच मिनट मे निर्णय ले लेता है। आज लोकतन्त्र मे कोई समस्या है तो क्या इतना शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है ? निर्णय लेते-लेते फाइलो की सख्या बढ जाती है। उत्तरदायित्व केन्द्रित नही है, यह बड़ी समस्या है लोकतन्त्र में।

भ्रष्टाचार

तीसरी समस्या है—भ्रष्टाचार की। लोकतन्त्र मे भ्रष्टाचार के लिये भी काफी अवकाश है। वोट लिये जाते हैं आश्वासानो के आधार पर। वे जानते भी हैं - आश्वासन पूरे होने के नही हैं। जब व्यक्ति जीत जाता है तब वोटरो को खुश रखने के लिये ऐसे काम भी करने लगता है, जो करणीय नही होते। इससे भ्रष्टाचार को पनपने का मौका मिलता है।

समाधान और आश्वासन

ये वर्तमान लोकतन्त्र की दो बडी समस्याए हैं। वावजूद इसके लोकतन्त्र बडा समाधान भी है और इसीलिए यह चल रहा है। इसमे प्रत्येक व्यक्ति को एक आश्वासन है। यदि मैं अपनी योग्यता और क्षमता को बढाऊ तो मैं कही भी पहुच सकता हू। आज किसान का बेटा भी प्रधानमत्री वन सकता है। एक हरिजन भी वडे से वडा मत्री वन सकता है, राष्ट्रपति बन सकता है। यह एक वडा समाधान और आश्वासन है लोकतन्त्र मे। इसमे परिवारगत परम्परा समाप्त हो गई। राजा के चाहे कैसा भी वेटा जन्मा, वही राजा वनेगा, यह परम्परा लोकतन्त्र मे नही चल सकती। लोकतन्त्र का एक बड़ा अधिकार है —कोई भी व्यक्ति वडे से वड़े मत्री या अधिकारी को न्यायालय मे ले जा सकता है, उसे चुनौती दे सकता है। पुरानी भाषा है—वह उसकी गलतियो के लिये फरियाद कर सकता है। सामान्य व्यक्ति वरिष्ठ अधिकारी या मंत्री की आलोचना कर सकता है। उसके विरुद्ध चाहे जैसी बात उगल सकता है।

मनुष्य की प्रकृति और लोकतन्त्र

स्वतंत्रता, न्याय, अधिकार आदि-आदि ऐसे समाधान है, जिनके कारण यह मान लिया गया—कुछ खामियों के होने के उपरांत भी यदि सबसे श्रेष्ठ-शासन प्रणाली कोई है, तो वह है लोकतंत्रीय प्रणाली, इसीलिये सारे विश्व मे लोकतंत्र फैलता चला

थोडी असमानता आती है, चित्त मे उद्वेग और विक्षोभ पैदा हो जाता है इसीलिए समानता को आधार मिल रहा है।

यह निश्चित तथ्य है कि इतना अच्छा होते हुये भी लोकतत्र परिपूर्ण नही है। परिपूर्ण तो निरपेक्ष अवस्था मे ही हो सकता है। आत्मा के असख्य प्रदेश है। वे परिपूर्ण है किंतु आत्मा मनुष्य बन गई, वह परिपूर्ण नही है क्योकि वह सापेक्ष है। जो असख्य प्रदेश हैं, वे निरपेक्ष हैं। वह आत्मा की सत्ता है। वेदात का ब्रह्म निरपेक्ष है, परिपूर्ण है किंतु माया और प्रपच परिपूर्ण नही हो सकता। जहा परिपूर्णता नही है, वहा समस्या और समाधान—दोनो साथ-साथ चलेगे।

लोकतंत्र की समस्या

लोकतत्र की अपनी समस्याए भी हैं। सबसे पहली समस्या है—अक्षमता का शासन। कारण यह है—प्रकृति मे एक ऐसी वात आ गई कि जहा समानता की वात है वहा व्यक्ति संख्या पर अधिक केन्द्रित होगा, गुणवत्ता पर कम होगा। इस पर ध्यान केन्द्रित नही होगा—सब गुणवान् आये किंतु यह चिन्तन प्रबल होगा—सख्या मे सबसे ज्यादा हो। दो उम्मीदवार खडे हो गये। एक चरित्रवान् है, गुणवान् है, भ्रष्टाचार नही करता है, अनैतिक तरीके काम मे नही लेता है, न झूठे आश्वास न देता है। दूसरा सब तिकडम जानता है। वोट जुटाने मे तिकडमवाज सक्षम बनेगा। उसे ज्यादा मत मिलेंगे और वह लोकतत्र का रक्षक बन जायेगा। जहां पर यह प्रवृत्ति है, वहा सख्या को अधिक महत्त्व नही मिलता है, गुणवत्ता को नही। जहा गुणवत्ता को महत्त्व नही मिलता वहा अक्षम व्यक्ति भी मुख्य हो जाता है। दस सक्षम व्यक्ति पूरे शासन को ठीक चला सकते हैं किंतु सौ अक्षम आदमी शासन को कुछ भी नही चला सकते। लोकतन्त्र के साथ जो अक्षमता का अभिशाप जुडा हुआ है, उसमे सख्या का महत्त्व है, गुणवत्ता के लिये कोई अवकाश नही है। यह लोकतन्त्र की एक दुर्बलता है, समस्या है।

विकेन्द्रित उत्तरदायित्व

लोकतन्त्र की दूसरी समस्या है—उत्तरदायित्व का केन्द्रित न होना। एक राजा है। उसे किसी समस्या के सन्दर्भ मे निर्णय लेना

है तो वह पांच मिनट मे निर्णय ले लेता है। आज लोकतन्त्र मे कोई समस्या है तो क्या इतना शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है ? निर्णय लेते-लेते फाइलो की सख्या बढ जाती है। उत्तरदायित्व केन्द्रित नही है, यह वडी समस्या है लोकतन्त्र मे।

भ्रष्टाचार

तीसरी समस्या है—भ्रष्टाचार की। लोकतन्त्र मे भ्रष्टाचार के लिये भी काफी अवकाश है। वोट लिये जाते हैं आश्वासानो के आधार पर। वे जानते भी हैं - आश्वासन पूरे होने के नही हैं। जब व्यक्ति जीत जाता है तब वोटरों को खुश रखने के लिये ऐसे काम भी करने लगता है, जो करणीय नही होते। इससे भ्रष्टाचार को पनपने का मौका मिलता है।

समाधान और आश्वासन

ये वर्तमान लोकतन्त्र की दो वडी समस्याएं हैं। वावजूद इसके लोकतन्त्र वडा समाधान भी है और इसीलिए यह चल रहा है। इसमे प्रत्येक व्यक्ति को एक आश्वासन है। यदि मैं अपनी योग्यता और क्षमता को बढाऊ तो मैं कही भी पहुच सकता हूं। आज किसान का वेटा भी प्रधानमत्री वन सकता है। एक हरिजन भी वडे से वड़ा मत्री बन सकता है, राष्ट्रपति बन सकता है। यह एक वडा समाधान और आश्वासन है लोकतन्त्र मे। इसमे परिवारगत परम्परा समाप्त हो गई। राजा के चाहे कैसा भी वेटा जन्मा, वही राजा वनेगा, यह परम्परा लोकतन्त्र मे नही चल सकती। लोकतन्त्र का एक वडा अधिकार है—कोई भी व्यक्ति वडे से वड़े मत्री या अधिकारी को न्यायालय मे ले जा सकता है, उसे चुनौती दे सकता है। पुरानी भाषा है—वह उसकी गलतियो के लिये फरियाद कर सकता है। सामान्य व्यक्ति वरिष्ठ अधिकारी या मत्री की आलोचना कर सकता है। उसके विरुद्ध चाहे जैसी बात उगल सकता है।

मनुष्य की प्रकृति और लोकतन्त्र

स्वतत्रता, न्याय, अधिकार आदि-आदि ऐसे समाधान हैं, जिनके कारण यह मान लिया गया—कुछ खामियो के होने के उपरात भी यदि सबसे श्रेष्ठ-शासन प्रणाली कोई है, तो वह है लोकतत्रीय प्रणाली, इसीलिये सारे विश्व मे लोकतत्र फैलता चला

जा रहा है । यह लोकतन्त्र की एक छोटी-सी मीमासा है । यह केवल समाज-व्यवस्था की मीमासा नही है, केवल राजनैतिक प्रणाली की मीमासा नही है, यह मूल मानवीय प्रकृति की मीमासा है । मनुष्य की जो मूल प्रकृति है, उसके साथ लोकतन्त्र का मेल ज्यादा है । दूसरी भाषा मे कहा जा सकता है—यह महावीर के अनेकातवाद सिद्धात का विश्लेषण है । एक होता है दर्शन, एक होता है दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप । महावीर के दर्शन को लोकतन्त्र मे जो व्यापक रूप मिला है, उसमे व्यवस्था और अध्यात्म—दोनो का योग और मिल जाये तो अहिसा, सापेक्षता, शाति – ये तत्त्व अधिक विकसित हो सकते हैं । लोकतन्त्र को चलाने वाले लोग अध्यात्म को अपने साथ जोड ले तो लोकतन्त्र सोने मे सुगन्ध बन जाएगा ।

३. आवश्यक है लोकतंत्र का परिष्कार

देश किधर जा रहा है ? यह प्रश्न पूछा जा रहा है अपने आप से भी और दूसरो से भी। इसका उत्तर शायद किसी के पास नही है। उनके पास बिलकुल नही है, जो देश की डोर अपने हाथो मे थामे हुए हैं। देश के सामने अनेक समस्याए हैं—गरीबी की, निरक्षरता की, आबादी की, जातीयता की और साम्प्रदायिकता की। इन समस्याओ के समाधान मे लगा हुआ नेता क्या उक्त प्रश्न का उत्तर दे सकता है ?

लोकतंत्र की रीढ

लोकतन्त्र की रीढ है चुनाव और चुनाव की रीढ है घोषणा-पत्र। 'गरीबी हटाओ', 'महगाई पर नियत्रण करो' यह नारा लगते-लगते बूढा होने को आया है, न गरीबी हट रही है और न महंगाई कम हो रही है। दोनो ही सुरसा के मुह की भाति बढती जा रही हैं। आश्चर्य इस बात का है कि जो लोग गरीबी मिटाने और महगाई पर नियन्त्रण पाने के सकल्प के साथ सत्ता की कुर्सी पर बैठते हैं, वे सत्तारूढ होने के पश्चात् व्यक्तिगत अह की लडाइयो मे उलझ जाते है। मूल प्रश्न जहा के तहा रह जाते है। लम्बे समय से कुछ ऐसा ही हो रहा है। राजनेताओ का ध्यान अपनी सत्ता को बचाने मे लगा रहता है। उन्हे राष्ट्रीय समस्याओ पर ध्यान केन्द्रित करने का अवकाश ही नही मिलता।

स्वतन्त्रता और संयम

लोकतन्त्रीय प्रणाली मानवीय स्वभाव के लिए एक सम्मोहन है। स्वतन्त्रता मनुष्य का निसर्ग है। उसका समर्थन कर लोकतत्र ने मनुष्य के मन को जीता है। स्वतन्त्रता का आधारभूत पहलू है सयम। उसकी उपेक्षा कर लोकतन्त्र ने स्वतन्त्रता को महत्वाकाक्षा के रूप मे बदल दिया। एक मनोवैज्ञानिक और अर्थशास्त्री महत्त्वा-काक्षा को बुरा नही मानता, विकास के लिए उसे आवश्यक मानता है। यदि महत्त्वाकांक्षा और क्षमता का सतुलन न हो तो —

महत्त्वाकाक्षा मनुष्य को गलत रास्ते की ओर नही ले जाती ? राजनीति ने महत्त्वाकाक्षा के सूत्र को पकड़ा है, क्षमता के सूत्र की उपेक्षा की है, इसीलिए राजनीति राष्ट्र की समस्याओ को सुलझाने की दिशा मे प्रस्थान नही कर रही है, उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है।

राजनेता की अर्हता

एनेक्सी (संसदीय-शोध) मे प्रवचन करते हुए आचार्य तुलसी ने कहा था—बहुत बडा आश्चर्य है—विधानसभा और लोकसभा के सदस्यों के लिए अर्हता की चारित्रिक कसौटिया निर्धारित नही हैं। प्रशासन के क्षेत्र मे हर व्यक्ति के लिए शैक्षिक कसौटिया निर्धारित हैं किंतु सासदो के लिए वे भी नही हैं। इतने बडे राष्ट्र का सचालन करने वाले नेतृत्व का चरित्र यदि उदात्त न हो तो क्या उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की जा सकती हैं ? अहिंसा मे आस्था, अर्थ का संयम, अपने आवेशो पर नियन्त्रण करने की क्षमता, सामाजिक न्याय के प्रति हार्दिक समर्पण, समन्वय और सापेक्षता का दृष्टिकोण, बौद्धिक क्षमता और मानसिक सतुलन—ये राजनेता के चरित्र के मुख्य तत्त्व हैं। इन्हे कसौटी बनाकर किसी राजनेता के चरित्र को परखा जा सकता है। क्या इन कसौटियो मे अनुत्तीर्ण व्यक्तित्व लोकतन्त्र के लिए वरदान बन सकता है ?

आंख मूंद कर

मैं मानवीय दुर्बलता के मनोविज्ञान से अपरिचित नही हू। प्रत्येक मनुष्य में आर्थिक लोलुपता, प्रतिशोध लेने की वृत्ति, मानसिक असंतुलन आदि दुर्बलताए स्वाभाविक रूप मे होती हैं। इनका परिष्कार करने पर ही चरित्र उदात्त बनता है। क्या लोकतन्त्र के सारथियो ने इनके परिष्कार की किसी विधि का विकास किया है ? चार दशको से लोकतन्त्र की प्रणाली चल रही है। क्या जन-मानस को लोकतन्त्र की दीक्षा से दीक्षित किया गया है ? क्या लोकतन्त्र के सारथियो को रथ हाकने की विधि का कोई प्रशिक्षण दिया गया है ? ऐसा कुछ नही हुआ। एक नेता ने ड्राइवर से कहा—क्या तुम आख मूद कर कार चला सकते हो ? उसने कहा—सर ! नही। नेता बोला—हम तो आख मूदकर सरकार चला रहे हैं, तुम

कार नही चला सकते ?

तीसरी आंख खुले

यह एक व्यग्य है किन्तु इसमे बहुत बडी सचाई है। आज सरकार चलाने वाले आख मूद कर सरकार चला रहे है। वास्तव में सरकार चलाने वाले के कम से कम तीन आंखे होनी ही चाहिए। दो आखें बाह्य जगत् को देखने के लिए और तीसरो आख राष्ट्र की समस्या को देखने के लिए। इस तीसरी आख की योगी के तृतीय नेत्र से तुलना न करे। फिर भी इसे अन्तर्दृष्टि की कोटि मे तो रखा ही जाना चाहिए। अन्तर्दृष्टि के अभाव मे केवल बाह्यदृष्टि से विशाल राष्ट्र की समस्याओ को कैसे सुलझाया जा सकता है ? तीसरी आख का अभाव है इसलिए सब समस्याओ को सुलझाने का एक ही उपाय है और वह है भौतिक दृष्टिकोण। मनुष्य भौतिक दृष्टिकोण के आधार पर पदार्थों का उपयोग करता है। वह स्वय पौद्गलिक नही है। वह चेतन है। चेतन की समस्याओ को सुलझाने के लिए पदार्थ का समाधान पूर्णतः कारगर नही होता। उपयोगिता की सीमा मे पदार्थ के द्वारा समस्या का समाधान किया जा सकता है किन्तु बहुत सारी समस्याएं मानसिक हैं। उनका समाधान मानसिक प्रशिक्षण के द्वारा ही सभव हो सकता है।

समाज की मनोदशा

लोकतन्त्र की प्रणाली एक श्रेष्ठ समाधान है। वह केवल समाधान नही है, समस्या भी है। सत्ता की कुर्सी को पाने और उसे प्राप्त कर आर्थिक लाभ उठाने की एक प्रबल मनोवृत्ति विकसित हो रही है। उसमे असीम अधिकार और उससे असीम लाभ उठाने की सभावनाए हैं। इस पर केवल वैयक्तिक संयम और आत्मानुशासन का ही नियन्त्रण हो सकता है। उसका प्रशिक्षण दिया नही जाता। उसके प्रशिक्षण की आवश्यकता भी महसूस नही हो रही है। भ्रष्टाचार के आरोप-प्रत्यारोपो को सुनते-सुनते कान और मस्तिष्क दोनो परिपक्व हो गए हैं। अब उसकी चर्चा बहुत सार्थक-सी नही लगती। जिसकी बार-बार आवृत्ति हो जाती है, वह बात नई नही रहती, परिचित या साथी जैसी बन जाती है। समाज की इस मनोदशा मे क्या समस्या का समाधान खोजा जा सकता है ?

बदला है सापेक्षता का अर्थ

लोकतत्र मे प्रधानमत्री या मुख्यमत्री इतना समर्थ नही होता कि वह अपने साथियो पर नियन्त्रण कर सके। जिसके आधार पर वह प्रमुख बनता है, उन्हे अपने अनुकूल बनाए रखना नितान्त आवश्यक होता है। यह सापेक्षता का सिद्धान्त है। एक अर्थ मे सापेक्षता का बडा महत्त्व है। वर्तमान स्थिति मे सापेक्षता का अर्थ बदला हुआ प्रतीत हो रहा है। वह सहयोग की अपेक्षा प्रमुखता को बनाए रखने के लिए प्रयुक्त हो रही है। इस स्थिति मे नियन्त्रण की बात सभव नही बनती।

लोकतन्त्र का रथ चुनाव के पहियो पर चलता है। चुनावी सफलता मे कुबेर का प्रसाद बहुत जरूरी है। कुबेर की अनुकपा के बिना धन नही बरसता और धन की वर्षा के बिना चुनाव मे सफलता नही मिलती। इस स्थिति मे कौन किसे रोके ? और कौन किस पर नियत्रण करे ? समस्या का चक्रव्यूह लोकतंत्र के साथ जुडा हुआ है।

प्रश्न है स्वतंत्रता के उपयोग का

लोकतन्त्र के साथ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अनुबंध है। राजतन्त्र और अधिनायकवादी प्रणाली में उसकी सम्भावना नही है। लोकतत्र ने स्वतत्रता को मूल्य दिया है किन्तु इस विशेषता का उपयोग कम हो पाता है। लोकतत्र के नागरिक जातीयता, साम्प्रदायिकता आदि अनेक बन्धनो से जकडे हुए हैं इसलिए वे अपनी स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग कर नही पाते। चुनाव के समय राजनीति के सिद्धात नीचे दब जाते है, जातीयता और सांप्रदायिकता के बन्धन उभर कर ऊपर आ जाते हैं। जिस जातिवाद को वर्तमान परिस्थितियो मे निष्प्राण हो जाना था, उसकी प्राण-ऊर्जा और अधिक बढ गई है। जिस साप्रदायिक कट्टरता को अर्थहीन हो जाना था, उसकी सार्थकता भी बढी है।

लोकतन्त्र का अन्तर्द्वन्द्व

लोकतंत्र की वास्तविक सत्ता जातिवाद, सांप्रदायिकवाद और आर्थिक स्रोतो मे आसीन है। नम्बर दो की सत्ता शासन और प्रशासन के पास है। यह सभव नही कि जिनके आशीर्वाद से कोई

सत्ता पर आए और उनकी बात न माने। यदि न माने तो दूसरी वार सत्ता पर आने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। यह लोकतत्र का ऐसा अतर्द्वन्द्व है, जिससे छुटकारा पाना सरल नही है। कोई लोकतन्त्र का विकल्प सामने आए और उसकी अतर्द्वन्द्वात्मक परिस्थितियो से मुक्त होकर आए, तो स्वस्थ समाज की और स्वस्थ राजनीतिक प्रणाली की परिकल्पना की जा सकती है। हम परिकल्पना मे सिमटकर नही रह सकते। हमे लोकतत्र की समस्याओ को सरल बनाने की दिशा मे चिंतन करना है। इस चिन्तन का पहला बिन्दु है—शिक्षा। शिक्षा का पहला दशक भूमि को ऊर्वर बनाता है। दूसरे दशक मे बुआई होती है। तीसरे दशक मे फसल निष्पन्न हो जाती है। आवश्यकता है प्रशिक्षण की, आवश्यकता है एकाग्रता की, आवश्यकता है धैर्य की। यह त्रिवेणी सगम ही लोकतत्र की प्रणाली को परिष्कार दे सकता है।

४. लोकतंत्र को थामने वाले पवित्र हाथ

लोकतन्त्र का विकल्प क्या हो सकता है ? एक पत्रकार ने पूछा। मैंने कहा—लोकतत्र का विकल्प क्यो खोजते हो ? शासनतत्र की जितनी प्रणालिया हैं, उनमे सबसे अच्छा विकल्प है— लोकतत्र। उसकी श्रेष्ठता अभी खडित नही हुई है। फिर विकल्प की खोज किसलिए ? विकल्प खोजना चाहिए लोकतत्र को चलाने वाले हाथो का, जो हाथ लोकतन्त्र की डोर को थामने मे काप रहे हैं।

योग्यता की कसौटी

लोकतत्र ने सत्ता को इतना गतिशील बनाया कि वह जाति, सम्प्रदाय, गरीबी, अमीरी—इन सबसे परे जाकर किसी भी योग्य व्यक्ति का वरण कर सकती है। यह लोकतत्र के चरित्र का सबसे उजला पक्ष है, किन्तु लोकतत्र को चलाने वाले लोग अभी योग्यता की कोई कसौटी निश्चित नही कर पाए हैं। योग्यता की दो कसौटिया हो सकती है चरित्र बल और बौद्धिक क्षमता। पता नही, क्यो लोकतंत्र के साथ अभी इन दोनो कसौटियो का मैत्री सम्बन्ध स्थापित नही हो रहा है। सत्ता और प्रशासन की कुर्सी पर आसन बिछाने वाले लोगो का अर्थ के प्रति घोर आकर्षण बता रहा है कि लोकतत्र के सारथि का चरित्र-बल उन्नत नही है। अर्जुन को महाभारत की रणभूमि मे सारथि मिल गया। लोकतत्र का अर्जुन अभी भी सारथि की खोज मे है। महाभारत हो रहा है पर अर्जुन को सारथि नही मिल रहा है।

अर्थ का शिकजा

कुछ दिन पहले चीन मे एक आर्थिक घोटाले का सवाद पढा। इस आर्थिक घोटाले की माया ने जापान के एक से अधिक प्रधानमत्रियो को सत्ता-मुक्त कर दिया। चीन मे साम्यवादी शासन-प्रणाली है। इतनी नियत्रित प्रणाली मे भी आर्थिक घोटाला आश्चर्य की बात है। जापान लोकतत्रीय प्रणाली से शासित है, वहां भी

आर्थिक घोटाला। अर्थ का शिकजा इतना मजबूत है कि बडे से बड़े आदमी को अपनी पकड़ मे ले लेता है। क्या भारत के लोकतत्र का चांद इस राहु-ग्रास से मुक्त है ? सत्ता के पूर्व और पश्चिम मे क्या स्थिति बदली नही है ? लोग आश्चर्यपूर्ण भाषा मे बोलते हैं पहले क्या स्थिति थी और अब सत्ता के बाद क्या स्थिति हो गई ? यह आश्चर्यकारी परिवर्तन और इस परिवर्तन से उपजने वाले प्रश्न समाधान पाए बिना ही मौन हो जाते हैं।

प्रश्न है शौच धर्म का

बहुत बार यह स्वर सुनाई देता है—हम भ्रष्टाचार का विरोध करेंगे। यह स्वर सुनने में बहुत मीठा है पर क्या किसी ने इसकी ऊचाई को नापने का प्रयत्न किया है ?

शासक को इन्द्रियजयी होना चाहिए, चाणक्य के इस सूत्र को आज के पदार्थवादी और सुविधावादी युग मे बहुत मूल्य नही दिया जाता। फिर भी इसकी सचाई को नकारा नही जा सकता। सबके सब शासक विदेह जनक की प्रतिमूर्ति हो, यह कल्पना अतिकल्पना होगी किंतु शासक मे त्याग के कुछ बीजो का अकुरण हो, इस भावना को आधारभूमि से शून्य नही किया जा सकता। लोकतत्र के शासक और प्रशासक के हाथ मे असीम अधिकार है। प्राचीनकाल के राजे उनके सामने अधिकार की सीमा मे बौने से दिखाई देते हैं। इतने बडे अधिकार को पाना चुनावी प्रक्रिया का वरदान है। क्या त्याग को आच के बिना उसे पचाया जा सकता है ? मनु ने ठीक कहा था—अर्थशुचिः शुचिः। शुचि अथवा पवित्र वह होता है, जो अर्थ के मामले मे शुचि होता है। इस शौच-धर्म की नितात उपेक्षा हो रही है। लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यो का तथा विधान-सभा के सदस्यो का भत्ता बढना चाहिए। इस आकाक्षा की पूर्ति हो जाती है किंतु सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोगो मे शौच-धर्म का विकास होना चाहिए, यह स्वर बहुत उठता ही नही है और यदि किसी कोने मे उठता है तो श्रोता को न पाकर वह मद होते-होते क्षीण हो जाता है।

वर्तमान का आदर्श

हम नही सोच सकते कि आज का शासक चाणक्य जैसा कुटिया का जीवन जी सकता है। विदेह जनक और महामात्य चाणक्य

को अतीत की गाथा मानकर वर्तमान के पटल पर रेखांकित न करें। क्या वर्तमान का अपना कोई आदर्श नही है ? क्या नैतिक मूल्यो और जीवन मूल्यो को लिखने के लिए आज के मानव के पास कोई कागज, स्याही और कलम नही है ? यदि है तो इस प्रश्न पर सामूहिक चिंतन होना चाहिए। यह चिंतन केवल राजनीति के लोग ही न करे। इस चिंतन मे उनकी भी भागीदारी होनी चाहिए, जो बडे-बडे उद्योगपति और व्यवसायी हैं और इसी आर्थिक समस्या के वातावरण मे सांस ले रहे हैं। इस चिंतन मे उनकी साझेदारी भी कम महत्त्व की नही है, जो त्याग-तपस्या का जीवन जीते हैं, जिनका अर्थ-सग्रह से कोई सरोकार नही है।

गणाधिपति तुलसी का स्वप्न

प्रश्न किसी एक व्यक्ति का नही, किसी एक दल का नही, किसी एक वर्ग का नही, प्रश्न है पूरे समाज और राष्ट्र का। आगे बढें तो पूरी मानवजाति का है। प्रश्न हमारी धार्मिक और आध्यात्मिक परम्परा का है। प्रश्न उस भारतीय परम्परा का है, जिसने आचार का पाठ पढाने के लिए विश्व के लोगो को आमत्रण दिया था। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने एक स्वप्न संजोया है कि विभिन्न वर्गों के त्यागी, तपस्वी और मनीषी लोग एक साथ बैठकर आर्थिक महत्त्वाकाक्षा और असीम व्यक्तिगत स्वामित्व जैसी समस्याओ पर सामूहिक चिंतन करें। वह चिंतन मानव समाज के लिए ज्योति-स्तभ वने। लोकतत्र को चिरजीवी और स्वस्थ वनाए रखने के लिए आवश्यक हैं वे ज्योतिदीप, जो अथाह समुद्र मे तैरने वाले जलपोतों का सहारा वन सकें।

५. धर्म और राजनीति का द्वन्द्व

विलगाव का प्रश्न

'मेरे लिए धर्म से अलग कोई राजीति नही है। मेरा धर्म सार्वभौम और सहनशील धर्म है, अधविश्वासो और ढकोसलो का धर्म नही। वह धर्म भी नही, जो घृणा कराता है और लडाता है। नैतिकता से विलग राजनीति को त्याग देना चाहिए।' महात्मा गाधी का यह विचार आज भी बहुत प्रासगिक है। धर्म और राजनीति मे विलगाव की आवश्यकता के प्रश्न को सापेक्षदृष्टि से देखना होगा। साम्प्रदायिक कट्टरता और धर्म को हम एक ही आख से देखें तो राजनीति और धर्म के अलगाव की आवश्यकता लोकतत्र का प्रथम उच्छ्वास है। यदि धर्म को हम सत्य और अहिसा तथा नैतिकता की आख से देखें तो राजनीति धर्म से शून्य होकर खतरे की घटी से अधिक नही हो सकती। गाधी ने स्वय स्वीकारा है—'धर्म का अर्थ कट्टरपथ से नही है। उसका अर्थ है - विश्व की एक नैतिक सुव्यवस्था मे श्रद्धा। वह अदृष्ट है इसलिए उसकी वास्तविकता कम नही हो जाती। यह हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि सवसे परे है। यह उन धर्मों का उच्छेद नही, समन्वय करता है और उन्हे वास्तविक धर्म वनाता है।'

गणाधिपति तुलसी ने एक वार कहा था—'धर्म को पहला स्थान और सम्प्रदाय को दूसरा स्थान दिया जाए तभी धर्म समाज और राज्य के लिए प्रकाश-पुज वन सकता है।'

वर्तमान मे सत्य, अहिसा तथा नैतिकता वाला धर्म किसी अज्ञात कोने मे छिपा वैठा है और साम्प्रदायिक, अभिनिवेश वाला धर्म उजागर हो रहा है। इस अवस्था मे तथाकथित धर्म और राजनीति के विलगाव की आवश्यकता चिन्तनशील तटस्थ व्यक्ति को महसूस होती है और होनी चाहिए।

धर्म, सम्प्रदाय और संस्कृति

धर्म और सम्प्रदाय एक नही हैं। सम्प्रदाय धर्म की व्याख्या

अथवा सप्रेषण की गुरु-परम्परा है। म्यान तलवार की सुरक्षा के लिए है, किन्तु म्यान और तलवार एक नही हो सकती। छिलका फल की सुरक्षा के लिए है, पर गुदे और छिलके को एक ही तुला से नही तोला जा सकता। सम्प्रदाय उपयोगी है पर साप्रदायिक कट्टरता ने जो घृणा और हिंसा का ताडव किया है, उससे सप्रदाय का पवित्र अर्थ आज अपनी पवित्रता को बनाए नही रख सका। अग्रेजी मे धर्म का अनुवाद रिलीजन किया जा रहा है किन्तु मोक्ष पुरुषार्थ के सदर्भ मे जो धर्म की अवधारणा है, उसको यह शब्द पूर्णतः अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही है।

सस्कृति व्यापक तत्त्व है। धर्म उसके परिवार का एक तत्त्व हो सकता है किन्तु सस्कृति के साथ धर्म का प्रत्यक्ष संबध नही है।

भारतीय चितन की यह दुर्बलता मानता हू कि यहा समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म को विकसित नही किया गया। मोक्ष-धर्म, जो समाज और राज्य की व्यवस्था को प्रभावित कर सकता है, शासित नही कर सकता, उसकी ओर अधिक ध्यान दिया गया।

अपरिभाषित धर्म-निरपेक्षता

लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में किसी सम्प्रदाय का राज्यसत्ता पर अधिकार न हो, यह लोकतत्र के स्वास्थ्य का पहला लक्षण है। भारतीय सविधान मे इस स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है किन्तु धर्म, सम्प्रदाय, पथ और निरपेक्षता के बीच काई भेद-रेखा खीचो नही गई, उनकी स्पष्ट परिभाषा नही दी गई। यह अपरिभाषित धर्म-निरपेक्ष अथवा सेक्यूलरिज्म सशय और भ्राति के घेरे मे रहा। आज भी यह प्रश्नवाचक बना हुआ है, विवाद से मुक्त नही है। राजनीति को धर्म से अलग करने वाला विधेयक भी यदि अपरिभाषित रहा, उसमे सप्रदाय और धर्म की स्पष्ट परिभाषा नही की गई तो वह भी सार्थक होने की अपेक्षा निरर्थक विवाद और वितण्डा को ही जन्म देगा।

धर्म-सापेक्षता का सिद्धांत

धर्म-निरपेक्षता के साथ धर्म-सापेक्षता की ओर भी इगित होता तो सविधान भारतीय सस्कृति और परपरा के अधिक निकट होता। राज्य का कार्य काम और अर्थ की व्यवस्था करना है किन्तु काम और अर्थ के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली विकृतियो को दूर

करना भी राजनीति का काम है। भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञ आचार्यों ने काम और अर्थ की व्यवस्था को जितना आवश्यक बतलाया उतना ही आवश्यक बतलाया शासक के लिए काम, क्रोध आदि छह अतरग शत्रुओ पर विजय पाना तथा इन्द्रिय-निग्रह करना। यह धर्म-सापेक्षता का सिद्धान्त राजनीति के शुद्धीकरण का सिद्धात है। इससे समन्वित धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत अधिक स्पष्ट होता है।

बुद्धिवादी वर्ग का मौन

धर्म-निरपेक्षता, समाज, सस्कृति आदि के विषय मे बुद्धिवादी वर्ग भी प्राय: मौन रहा इसलिए अधिकांश एकागी व्याख्याए ही होती रही हैं। आवश्यक है कि हम केवल पश्चिमी विचारको की भाषा का ही पुनरुच्चारण न करें किन्तु अपना स्वतत्र चितन प्रस्तुत करें। व्यक्ति-निरपेक्ष समाज और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की भाषा ने बहुत उलझाया है। व्यक्ति-सापेक्ष समाज और समाज-सापेक्ष व्यक्ति का विचार समाजवाद की अवधारणा को नया रूप दे सकता है।

धर्म और दर्शन सस्कृति का एक पक्ष है। सस्कृति मे उन सब पक्षों का समावेश होता है, जो भाषा या प्रतीको के द्वारा सप्रेषणीय बनते हैं। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—इनकी धार्मिक अवधारणा भिन्न हो सकती है किन्तु सस्कृति के अनेक पक्ष उनके एक हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न बुद्धिवाद के स्तर पर होता तो अधिक सभव बनता। राजनीति के स्तर पर वह प्रयत्न न सभव बना और न उसके सफल होने की सभावना है। हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई—सभी समाज अपने-अपने अस्तित्व की सुरक्षा के प्रति जागरूक रहे, इसमे संघर्ष, घृणा और वैमनस्य के लिए कोई अवकाश नही है। वे समाजान्तरण या समाज-परिवर्तन का प्रयत्न करते हैं तब सघर्ष और कलह की भावना बद्धमूल होती है, दुश्मनी का वातावरण बना रहता है।

धर्मान्तरण समाजान्तरण

हमारी दृष्टि मे धर्मान्तरण और समाजान्तरण एक नही है। धर्मान्तरण वैचारिक स्वतंत्रता का प्रश्न है। धर्म-परिवर्तन के साथ यदि जाति, समाज आदि की सारी व्यवस्था बदल जाए तो फिर वह

केवल धर्मान्तरण नही, समाजान्तरण होता है। बुद्धिवादी वर्ग इस धर्मान्तरण की समस्या को सुलझाने में सक्रिय योग देता तो राष्ट्र और अधिक संगठित होता। आज प्रत्येक समस्या को सुलझाने का अधिकार राजनीति और राजनेता ने ले रखा है। वह तर्कशास्त्र का अति-प्रसग है। जो बुद्धिवादी वर्ग का कार्य है, वह राजनीति के हाथ मे जाए, यह वाछनीय नहीं है।

प्रस्तावित अधिनियम

समाज को चलाने वाले नियमो का निर्धारण केवल सरकार ही करे, यह सीमा का अतिक्रमण है, बुद्धिवादी वर्ग की अकर्मण्यता का परिणाम है। सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक नियमो के निर्धारण के समय बुद्धिवादी वर्ग का मत नही जाना जाता, इसे वैचारिक कृपणता के अतिरिक्त और क्या कहा जाए ? प्रस्तावित अधिनियम का नामकरण—धर्म को राजनीति से अलग करना—फिर वही भ्रम पैदा कर रहा है, जो भ्रम धर्म-निरपेक्षता शब्द ने पैदा किया है। जाति, सम्प्रदाय और भाषा की कट्टरता एक ही विषवृक्ष के फल हैं। यदि इन विषफलो के निवारण का एक साथ कोई प्रावधान किया जाता तो समस्या के सुलझने की अधिक सम्भावना होती। चुनाव के समय जाति, भाषा और सम्प्रदाय का अधिकतम उपयोग करने वाले राजनीतिक दल राजनीति को धर्म से विलग करने की बात कहे और कोई वैसा अधिनियम प्रस्तुत करें, इसे सविधान और राष्ट्र का सौभाग्य नही कहा जा सकता।

६. आत्म-धर्म, समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म

धर्म की प्राचीन अवधारणा

आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्ष पर भारतीय दर्शनो मे विशद विचार हुआ है। पश्चिमी दर्शनो के ये मुख्य विचारणीय विषय नही रहे। आत्मा और ईश्वर पर कुछ दार्शनिको ने विचार किया किन्तु मोक्ष प्राय. विचार का विषय नही बना। भारतीय दर्शनो का मुख्य लक्ष्य या साध्य मोक्ष रहा है। उसका अर्थ है—सब बंधनो से मुक्ति, सूक्ष्म-स्थूल - सभी शरीरो से मुक्ति। मोक्ष-प्राप्ति की साधन-सूची मे अनेक तत्त्व है, उनमे एक तत्त्व है —धर्म।

साख्य दर्शन के अनुसार धर्म स्वर्ग का साधन है, मोक्ष का साधन नही। कर्म से मोक्ष नही मिलता। अच्छे-बुरे सभी कर्म बध उत्पन्न करते हैं। शुभ कर्म से स्वर्ग और अशुभ कर्म से नरक मिलता है। स्वर्ग और नरक भी दु खमय है।

> **धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।**
> **ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बध ॥**

न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान से मोक्ष उपलब्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष की विचारण मे धर्म को स्थान दिया है। कणाद की व्याख्या है - जिससे अभ्युदय और नि.श्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

बौद्ध दर्शन मे आर्य अष्टागिक मार्ग को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग कहा गया है।

जैन दर्शन मे मोक्ष के तीन अथवा चार मार्ग बतलाए गए हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

आचार्य भिक्षु ने मोक्ष मार्ग के आधार पर अहिंसा, दया आदि का विश्लषण किया इसलिए उनके साहित्य में बार-बार 'यह मोक्ष का मार्ग है', 'यह ससार का मार्ग है'—इन वाक्यो का प्रयोग मिलता है। यदि हम मोक्ष-मार्ग को संसार-मार्ग का हरा चश्मा

लगाकर देखे तो वह हमे हरा ही हरा दिखाई देगा इसलिए आवश्यक है कि हमारी आंखों पर रंगीन चश्मा न हो। जो जैसा है, उसे उसी रूप और रग मे देखे। कणाद ने धर्म को व्यापक अर्थ मे परिभाषित किया। जैन आचार्यों ने कृषि, वाणिज्य आदि को अभ्युदय का हेतु माना।

आचार्य भिक्षु ने कहा अभ्युदय का हेतु ससार का मार्ग है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बिना कोई मोक्ष का मार्ग हो ही नही सकता। आचार्य भिक्षु के विचार का समर्थन जबूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति से भी होता है। **'पयाहियाए उवदिसई'**, इस सूत्र की वृत्ति मे शात्याचार्य ने कृषि आदि कर्मो को जीवन-निर्वाह और अभ्युदय का हेतु होने के कारण प्रजा के लिए हितकर बतलाया है। आजीविका अभ्युदय का हेतु है। यदि रोजगार (आजीविका) सरलता से प्राप्त होता है तो समाज मे चोरी आदि अपराध नही बढते। भगवान् ऋषभ ने समाज को अपराध-मुक्त रखने के लिए जीवनोपयोगी कलाओ और शिल्पों का प्रवर्तन किया। मनुस्मृतिकार ने भी आभ्युदयिक और नैःश्रेयसिक कर्म को पृथक्-पृथक् माना है।

पंचपदी

प्राचीनकाल मे धर्म की अनेक परिभाषाए बन चुकी थीं फिर भी आचार्य भिक्षु को एक नई परिभाषा की अपेक्षा प्रतीत हुई। धर्म के नाम पर बहुत बडा घोटाला चल रहा था। सेवा, सहयोग, सहानुभूति, दान और परोपकार—ये शब्द धर्म की धारणा को भ्रान्त बना रहे थे।

सेवा शब्द का स्वरूप कैसा ही हो, बस, सेवा करना धर्म है, यह मत रूढ हो गया था। आचार्य भिक्षु ने इस मत का विश्लेषण किया—सेवा सामाजिक और आत्मिक—दो भूमिकाओ पर हो सकती है। समाज की भूमिका पर सेवा करना सामाजिक कर्तव्य अथवा समाज-धर्म है। आत्मा को पवित्र बनाने वाली सेवा करना आत्म-धर्म अथवा मोक्ष-धर्म है। उसका स्वरूप है ज्ञान, दर्शन और चरित्र का विकास।

एक आदमी कोई कार्य कर रहा है, उसमे कोई दूसरा जुडता है, उसका नाम है सहयोग। वह समूह का मिला हुआ श्रम है। जैसे

एक आदमी भारी लक्कड उठा रहा है, दूसरा आया, उसे सहारा दिया, वह है सहयोग। सहयोग योग से जुड जाता है।

सहानुभूति– सह अनुभूति। एक व्यक्ति का सवेग देखकर दूसरा व्यक्ति वैसा ही अनुभव करता है। उसका नाम है सहानुभूति। जैसे दु खी व्यक्ति को देखा और स्वय दु खी बन गया। समाज मनोविज्ञान मे सहानुभूति के दो प्रकार वतलाए गए हैं। एक है सक्रिय सहानुभूति, जैसे किसी भूखे को देखा, सहानुभूति जाग गई और उसे भोजन करा दिया। दूसरी है निष्क्रिय सहानुभूति। भूखे को देखा और कह दिया—मुझे वडा दु.ख है कि तुम भूखे मर रहे हो। वस वाचिक सहानुभूति प्रगट कर दी। करुणा, दया और अनुकपा—ये सहानुभूति के ही विविध रूप हैं।

दान --भिखारी को रोटी, कपडा आदि देना दान है।

परोपकार– दूसरो का उपकार करना।

इन पाच शब्दो ने समाज और धर्म को, समाज-धर्म और आत्मधर्म को इतना मिला दिया कि धर्म का निर्णय करना साधारण व्यक्ति की पहुंच से वाहर हो गया है। सामाजिक व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्यो का निर्धारण होता है। समाज के सामने यक्षप्रश्न कर्तव्य का होता है। सामाजिक व्यक्ति के सामने धर्म का प्रश्न तव आता है, जव वह मोक्ष की साधना करना चाहता है।

सामाजिक कर्तव्य : आत्मधर्म

आचार्य भिक्षु ने उक्त पचपदी का विश्लेषण कर सामाजिक कर्तव्य और आत्म-धर्म के वीच भेद-रेखा खीची। सेवा धर्म है, यह एकान्तत. मत कहो, विभज्यवाद का प्रयोग कहो। शरीर को पोषण देने वाली सेवा सामाजिक कर्तव्य भी है, धर्म भी है। धर्म कर्तव्य होता है, किन्तु सव कर्तव्य धर्म नही है। आचार्य भिक्षु का वाक्य है– ए ससार तणो किरतव जाणो। सासारिक कर्तव्य का अर्थ है— सामाजिक कर्तव्य।

अतीत की दस-पन्द्रह शताब्दियो मे भारतीय मानस में सामाजिकता का ह्रास क्यो हुआ, यह अनुसधान का विषय है। एक सामाजिक प्राणी में सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागरूकता होनी चाहिए, वह कम क्यो हुई ? सामाजिक कर्तव्य को धर्म के वटखरों से तोलना शुरू कर दिया, प्रत्येक सामाजिक कर्तव्य को धर्म के रंग

में रंग दिया। क्या इस धारणा ने सामाजिक चेतना को कुंठित नही किया है? किसी व्यक्ति मे धर्म के प्रति आस्था होती है और किसी व्यक्ति मे नही होती। जो व्यक्ति धर्म को नही मानता, वह धर्म के नाम से चलने वाले सामाजिक कर्तव्य को कैसे निबाहेगा? प्रत्येक सामाजिक कर्तव्य धर्म है। धर्म को उपयोगिता के साथ इस प्रकार जोड़ दिया कि धर्म की कोई अपनी पहचान ही नही रही। कुछ प्राचीन आचार्यों ने गहराई में जाकर चिन्तन किया। उन्होने धर्म और कर्तव्य के बीच कुछ भेद-रेखाए जरूर खीची। आचार्य भिक्षु ने उन रेखाओ को स्पष्ट रूप मे उभारा।

भगवान् ऋषभ ने जीवन-यापन के लिए सुरक्षा, व्यापार, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन छह कर्मों का प्रवर्तन किया। अपने मतिकौशल से जनता के लिए आजीविका की व्यवस्था की। उस समय भगवान् सराग थे इसलिए उक्त कर्मों का प्रवर्तन किया।

आचार्य हेमचन्द्र के सामने प्रश्न उपस्थित हुआ—कृषि, वाणिज्य आदि कर्म सावद्य हैं, बधनकारक हैं, फिर भगवान् ने उनका प्रवर्तन कैसे किया? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने लिखा—कृषि आदि कर्म सावद्य हैं, यह जानते हुए भी भगवान् ने प्रजा पर अनुकम्पा और अपना कर्तव्य समझकर उनका प्रवर्तन किया—

एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्त्तव्यमात्मनः॥

दान की अवधारणा

दान की अवधारणा ने भिखारीपन को बढावा दिया। वास्तव में कोई भी गृहस्थ दान का अधिकारी नही है। गुजरात के प्रसिद्ध सत रविशकर महाराज विहार में गये। उस समय बिहार भयंकर अकाल का सामना कर रहा था। अनेक लोगो ने कहा—हमे रोटी दो। रविशकर महाराज ने कहा—'रोटी मिलेगी पर मुफ्त मे नही। श्रम करो और रोटी लो।' यह एक स्वस्थ सामाजिक कर्तव्य है। जयप्रकाश नारायण ने दानी और भिखारी की अवधारणा का मार्मिक चित्रण किया—'रामराज्य भिखारी और राजा—दोनो को क्यो नही? यदि उसमे केवल दानी ही रहेगे, भिखारी नही रहेगे

तो उन्नत विचार वाले उदार दानी अपनी आत्मा की महान् उदारता और सदाशयता का परिचय देकर किस तरह मानवीय स्वभाव का हिन्दु आदर्श पेश करेंगे ?'

काका कालेलकर दान और त्याग के बीच भेदरेखा खीचने में सफल हुए हैं। उनका चिंतन आचार्य भिक्षु के चिंतन का स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है - 'सच्चा धर्म, प्रधान धर्म दान नही किन्तु त्याग है। समाजद्रोह करके धन इकट्ठा करना और उसमे से थोडा सा विपद्ग्रस्तो को देकर अपने को पुनीत वनाना, यह अपने को और समाज को धोखा देना है। सच्चा धर्म है समाज सेवा के लिए इद्रिय निग्रह करना, उद्योग परायण सादगी से रहना और समूचे समाज के साथ ही नही किंतु सचराचर विश्व के साथ एकरूप हो जाना, यही है सच्चा जीवनानद।'

आचार्य भिक्षु ने दो सौ वर्ष पहले कहा—भिखारी को दान देना धर्म नही है तव एक वातूल-सा खड़ा हो गया। वर्तमान का चिन्तन वहुत सवल हो चुका है। आज का चिन्तनशील व्यक्ति भिखारीपन को सामाजिक अपराध मानता है। भिखारी होना ही सामाजिक व्यवस्था का दोष है। वह समाज अच्छा समाज नही होता, जिस समाज मे कोई व्यक्ति भिखारी होता है और कोई दान-दाता। भिखारीपन को प्रोत्साहन देना और भी ज्यादा दोप है। भिखारी को श्रम मे लगाकर रोटी दें, इस प्रवृत्ति को सामाजिक कर्तव्य की कोटि मे रखा जा सकता है। दान का औचित्य समझ से परे है। इस दान की प्रथा ने सचमुच हिन्दुस्तान मे मुफ्तखोरी की प्रवृत्ति को वढ़ावा दिया है।

दान का अधिकारी

आचार्य भिक्षु ने दान और त्याग को पृथक् रूप मे परिभापित किया—जो व्यक्ति सयमी है, अपने लिए रसोई नही पकाता, अकिंचन है, पैसे को सर्वथा त्याग चुका है, आत्म-साधना मे लीन है, विरक्त है, वही व्यक्ति दान का अधिकारी है। उसे दान देना त्याग है, अतिथिसविभाग व्रत है। दान, पुण्य की मीमांसा मे उनका तर्क था—भिखारी को अपना भाई मानकर भोजन कराए तो धर्म नहीं, भिखारी मानकर भोजन कराए तो धर्म, ऐसा क्यो ? अपने भाई को भोजन कराना धर्म नहीं माना जाता था, केवल भिखारी को रोटी

देना धर्म माना जाता था, इस भ्रांत धारणा को आचार्य भिक्षु ने तोड़ा। उन्होने कहा—यह कैसी भ्रांति है कि एक सामाजिक व्यक्ति को पहले भिखारी बनाओ फिर उसे दान दो और धर्म-पुण्य कमाओ। यह दोहरी नही, तिहरी भूल है। धन्ना सेठों को त्याग तपस्या की जरूरत नही, बस जैसे-तैसे धन कमाओ, थोड़ा-सा भिखारी को खिला दो, पुण्य कमाओ और स्वर्ग में जाओ। इस भ्रांत अवधारणा पर आचार्य भिक्षु ने बहुत कडा प्रहार किया। लोगों को बडा अटपटा लगा। जब धर्म के बारे मे गम्भीर चिन्तन नही होता तब धर्म के क्षेत्र मे रूढ परम्परा चलती है, बहुत सारी भ्रान्तिया पैदा हो जाती हैं।

मिश्रण न हो

प्राचीनकाल मे धर्म शब्द का प्रयोग विधि और व्यवस्था के अर्थ में भी होता था। इस आधार पर कर्तव्य को भी धर्म कहा जाता था। भगवान् महावीर ने दस प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया। उस वर्गीकरण में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म आदि आत्म-धर्म से भिन्न है। हिन्दुस्तान की त्रासदी का मुख्य हेतु यह है कि यहा समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म विकसित नही हो सके। यदि उनका विकास हुआ होता तो समाज की व्यवस्था समाज-धर्म के आधार पर और राष्ट्र की व्यवस्था राष्ट्र-धर्म के आधार पर सचालित होती। आत्म-धर्म का उपयोग आत्म-साधना के लिए होता, समाज-धर्म और आत्म-धर्म का मिश्रण नही होता। इस मिश्रण के कारण न समाज और राष्ट्र की व्यवस्था समुचित हो सकी और न आत्म-धर्म का वाछनीय विकास हो सका। आचार्य भिक्षु ने इस सचाई को एक उदाहरण के माध्यम से प्रकट किया—

एक साहूकार की दुकान मे सवेरे कोई पैसा लेकर आया और कहा—शाहजी ! पैसे का गुड दे। तब दुकानदार ने उस पैसे को नमस्कार कर उसे ले लिया। उसने सोचा—सवेरे-सवेरे तांबे के सिक्के से व्यवसाय का प्रारम्भ हुआ है। दूसरे दिन वह रुपया लेकर आया और कहा—शाहजी ! रुपये की रेजगी है ? तब दुकानदार ने रुपया को नमस्कार कर उसे ले लिया। रेजगी गिन उसे दे दी। सेठ मन मे प्रसन्न हुआ—आज चादी के सिक्के का दर्शन हुआ है।

तीसरे दिन वह खोटा रुपया लेकर आया और बोला—शाहजी ! रुपये की रेजगी है ? तब वह दुकानदार प्रसन्न होकर बोला—मेरी दुकान पर कल वाला ही ग्राहक आया है। उसने रुपया हाथ मे लेकर देखा तो वह खोटा था। भीतर तावा और ऊपर चादी। उसने उस रुपये को देखकर नाराजगी व्यक्त की। उसने सोचा—सवेरे-सवेरे नकली रुपए का दर्शन हुआ।

तब वह ग्राहक बोला—शाहजी ! आप नाराज क्यो हुए ? परसो मै पैसा लाया था तब आपने तावे के सिक्के को नमस्कार किया था। कल मैं रुपया लाया था तब भी आपने चादी के सिक्के को नमस्कार किया था और आज इस सिक्के मे तांवा और चादी दोनो हैं इसलिए आप दो वार नमस्कार करें।

तव साहूकार बोला—रे मूर्ख ! परसो तो अकेला तावा था, वह ठीक है। कल अकेला चादी का सिक्का था, वह भी ठीक है। वे दोनो अलग-अलग थे इसलिए नकली नही थे पर आज इस सिक्के मे तावा और ऊपर चादी का झोल है इसलिए यह खोटा है। यह किसी काम का नही।

सामाजिक कर्तव्य का अपना मूल्य है, आत्म-धर्म का अपना मूल्य है। दोनो अपनी-अपनी भूमिका पर काम करें तो दोनो का मूल्य है। समाज-धर्म और आत्म-धर्म का मिश्रण हो जाए तो दोनो अपना मूल्य खो देते हैं।

महात्मा गाधी ने कहा—'मेरे लिए धर्महीन राजनीति निरी कूडा-करकट है और सदैव त्याज्य है। राजनीति का सवध राष्ट्रो से है और जिसका सवध राष्ट्रो के कल्याण से है, उसमे सभी धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुषो को रुचि लेनी चाहिए।'

राजनीति धर्म से प्रभावित हो

आचार्य भिक्षु का चिन्तन था—समाज कर्तव्य और धर्म का मिश्रण नही होना चाहिए। महात्मा गांधी धर्महीन राजनीति को कूडा-करकट मानते हैं। ये दोनो विचार क्या भिन्न दिशागामी नही हैं ? वहुत सारे चिन्तक कहते हैं—समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था धर्म के द्वारा सचालित होनी चाहिए, जिससे कि वह पवित्र रह सके। इस चिंतन के सत्याश को हम अस्वीकार नही करते किन्तु यह समग्र सत्य नही है। धर्म और समाज-कर्तव्य का

मिश्रण वास्तव मे समस्या का समाधान नही है। समस्या का समाधान यह है—समाज समाज-धर्म के द्वारा राष्ट्र-धर्म के द्वारा शासित अथवा सचालित हो। वे धर्म के द्वारा सचालित अथवा शासित नही किन्तु धर्म के द्वारा प्रभावित हो। महात्मा गाधी ने भी प्रभावित होने की बात स्वीकार की है—मैं नही मानता कि आध्यात्मिक नियम अपने स्वतत्र क्षेत्र मे काम करते हैं। इसके विपरीत वे केवल जीवन के सामान्य कार्यों द्वारा ही व्यक्त होते हैं। इस प्रकार वे आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रो को प्रभावित करते हैं।'

राष्ट्रीय कर्तव्य

राष्ट्रीय कर्तव्यो की तालिका इस प्रकार वनती है :—

१. गरीबी हटाना
२. रोजगार देना
३. शिक्षा की व्यवस्था करना
४. चिकित्सा की व्यवस्था करना
५. आर्थिक विकास करना
६. प्राथमिक आवश्यकता—घर, वस्त्र, रोटी आदि की व्यवस्था करना।
७. न्याय की व्यवस्था करना।

राष्ट्र-धर्म का विकास

इन कर्तव्यो की पूर्ति राष्ट्र-धर्म के विधि-विधानो द्वारा की जा सकती है। धर्म के विधि-विधान इनकी सपूर्ति नही कर सकते। राष्ट्र का समग्र विकास न होने की स्थिति मे कुआ खुदाना भी धर्म वन गया, चिकित्सालय वनाना, धर्मशाला वनाना भी धर्म बन गया और इस धर्म के अधिकारी वे ही लोग वने, जिनके पास पैसा था। प्रत्येक आवश्यक कर्तव्य की पूर्ति से स्वर्ग के प्रलोभन को जोड दिया और उसे धर्म के आसन पर विठा दिया। फलतः आवश्यकताओ की पूर्ति धनवानो की कृपा पर निर्भर रही। राष्ट्रीय कर्तव्य की चेतना उसके साथ नही जुड सकी। प्रत्येक सामाजिक कर्तव्य और राष्ट्रीय कर्तव्य के साथ नैतिकता की चेतना जुडे, यह अपेक्षित है, किन्तु वे कर्तव्य धर्म के नाम पर अथवा धर्म के प्रलोभन से सचालित न हो, जिससे कि समाज और राष्ट्र के उद्देश्य तथा धर्म के उद्देश्य की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके।

सर्वोत्तम विकल्प

समाज-धर्म समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समान होगा।

राष्ट्र धर्म राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए समान होगा। उपासना का धर्म सबका समान नही होगा। भिन्न-भिन्न संप्रदाय और भिन्न-भिन्न अवधारणाएं। फिर समाज और राष्ट्र किस धर्म के द्वारा शासित हों, यह प्रश्न जटिल बना रहता है। इतिहास साक्षी है कि धर्म के द्वारा शासित राज्यों में अपने से भिन्न धर्म-सम्प्रदाय वालो के प्रति अमानवीय अत्याचार हुए हैं। धार्मिक उन्माद और सत्ता का उन्माद—दोनो एक साथ होते हैं तो वे अणु-शस्त्रों से भी अधिक भयंकर बन जाते हैं।

समाज अथवा राष्ट्र नैतिकता और चरित्रधर्म से शासित हो, यह विकल्प भी सर्वथा निर्दोष नही है। नैतिकता और चरित्रधर्म स्वैच्छिक है। उन्हे विधि—कानून की भांति अनिवार्य नही बनाया जा सकता। यदि उन्हे अनिवार्य किया जाए तो फिर वे कानून बन जाएगे, धर्म के रूप मे नही रहेगे। इसलिए सबसे अच्छा विकल्प यह है कि समाज और राष्ट्र की व्यवस्था नैतिकता और चरित्रधर्म से प्रभावित हो, उनमे आने वाली विकृतियो और उच्छृंखलताओ पर अकुश रहे, वे मानव के लिए दमनकारी और शोषणकारी न बनें।

७. राजनीति का धर्म

आचार्य भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व कहा था—धर्म, समाज और राज्य की नीति का मिश्रण नही होना चाहिए। उस समय किसने सोचा था—धर्म और राजनीति को अलग करने के लिए ससद मे सरकार द्वारा विधेयक लाया जायेगा। सरकार को धर्म के मामले मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए, यह निर्विवाद सत्य है। धर्म को राज्य के मामले मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए, इस सचाई को भी हमे स्वीकार करना चाहिए। जब से धर्म गौण हुआ है और सम्प्रदाय मुख्य बना है, उसी क्षण से धर्म राज्य के लिए एक समस्या बन गया। यदि धर्म प्रधान होता और सम्प्रदाय गौण होता तो धर्म और राजनीति को अलग करने वाला विधेयक संसद की दहलीज पर खड़ा नही होता।

क्या धर्म जरूरी नहीं है ?

आज से पैंतालीस वर्ष पूर्व आचार्य श्री तुलसी ने गीत रचा था, जिसकी एक पक्ति है—

राजनीति से पृथक् सदा है, द्वेष राग से धर्म जुदा है।

एक जिज्ञासा का स्वर उभरा—क्या राजनीति के लिए धर्म जरूरी नही है ? इस प्रश्न का विभज्यवादी शैली से उत्तर दिया गया। राजनीति के लिए धर्म जरूरी भी है और नही भी है। यदि धर्म है तो वह राजनीति मे आने वाली रागात्मक और द्वेषात्मक विकृतियों को दूर करने के लिए बहुत जरूरी है। यदि सम्प्रदाय है तो वह राजनीति के लिए जरूरी नही है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने कितने युद्ध लडाए और कितना नरसंहार किया, इसका साक्षी है दो-ढाई हजार वर्ष का इतिहास।

धर्म के दो रूप

बुद्धिवाद की ओर से धर्म पर आने वाला एक आरोप है—धर्म ने मनुष्यजाति को विभक्त किया है, समरांगण मे उतारा है और भूमि को रक्तरजित किया है। इस आरोप के यथार्थ को

झुठलाया नही जा सकता तो इसे पूर्ण सत्य भी नही कहा जा सकता।

धर्म के दो रूप हैं—

१. आध्यात्मिक अथवा चरित्र धर्म।

२. सस्थागत धर्म।

आध्यात्मिक धर्म उक्त आरोप से सर्वथा मुक्त है। उसने विश्वमैत्री का शखनाद किया और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के घोष को विश्वव्यापी बनाया। सस्थागत अथवा सगठनात्मक धर्म ने सघर्ष और युद्ध को समय-समय पर निमत्रित किया। वह धर्म राज्यसत्ता पर अपना अधिकार जमाता रहा। उसने राज्यसत्ता को आत्मसात् कर लिया, फलत: न धर्म विशुद्ध रहा और न राजनीति विशुद्ध रही। धर्म पर विचार करते समय उसके इन दोनो रूपो को सामने रखना अपेक्षित है। इसके बिना हम न धर्म के साथ न्याय कर सकते हैं और न राजनीति के साथ।

कर्णधार नहीं

राष्ट्र सचालन के लिए राजनीति का बहुत मूल्य है, तो पवित्र राष्ट्रीय वातावरण के लिए धर्म बहुत मूल्यवान् है। सस्थागत धर्म ने इन दोनो मूल्यो की उपेक्षा की है। राज्य की सत्ता एक धर्मगुरु के हाथ मे होती है तो अहिसा के आसन पर हिसा और सत्य के सिहासन पर झूठ आसीन हुए बिना नही रहता। आध्यात्मिक सन्त राजनीति या राज्य के लिए पथ-दर्शक हो सकता है किन्तु उसे राज्य की व्यवस्था का कर्णधार नही होना चाहिए।

गांधी ने कहा—'जो मनुष्य यह कहता है—धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नही है, वह धर्म को नही जानता, ऐसा कहने मे मुझे संकोच नही होता और न ऐसा कहने मे मैं अविनय करता हूं।' गाधी के इस सिद्धात पर सापेक्षदृष्टि से विचार करना आवश्यक है। धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध है, किन्तु दोनो एक नही है। राजनीति राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिए है। धर्म का नैतिक पक्ष व्यवस्था के विशुद्धीकरण के लिए है। राजनीति को धर्म के नैतिक अथवा चरित्र पक्ष से प्रभावित होना चाहिए। यह राजनीति और धर्म के सम्बन्ध का अतर्कणीय पहलू है। राजनीति को धर्म के उपासना पक्ष अथवा सांप्रदायिक पक्ष से अलग रहना चाहिए, वह किसी सम्प्रदाय से सचालित नही होनी चाहिए। यह

राजनीति और धर्म के सम्बन्ध को नकारने वाला पहलू है।

धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध है भी और नही भी, यह अनेकात दृष्टिकोण ही राजनीति और धर्म के सम्बन्ध की समस्या का समाधान हो सकता है।

राजनीति और धर्म को दो दिशा मे ले जाने वाले भी न्याय नही कर रहे हैं, तो धर्म और राजनीति को एक सिंहासन पर बिठाने वाले भी न्याय नही कर रहे हैं। न्याय का कर्णधार वही बन सकता है, जो दोनों के सम्बन्ध और विसम्बन्ध की सीमा को जानता है।

राजनीति के लिए कोई धर्म निर्धारित नही है, इसलिए 'यह राजनीति का धर्म है', ऐसा अगुलि-निर्देश नही किया जा सकता। महात्मा गाधी ने कहा—'अहिंसा और सत्य राजनीति का आधार होना चाहिए।' उन्होने लिखा—'हमे सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत आचरण का विषय नही, बल्कि समूहो, समाजो और राष्ट्रो के व्यवहार की चीज भी बनाना होगा। कम से कम मेरा स्वप्न तो यही है । अहिंसा आत्मा का गुण है और जीवन की हरेक चीज मे सभी को उसका पालन करना चाहिए।'

उन्होने राजनीति के क्षेत्र मे असहयोग, सविनय अवज्ञा आदि अनेक प्रयोग भी दिए किन्तु वर्तमान की अपेक्षा है—राजनीति के धर्म की एक आचार-सहिता निर्मित की जाए। इस अपेक्षा की पूर्ति अणुव्रत की आचार-सहिता से की जा सकती है। अणुव्रत धर्म है किंतु किसी सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ नही है। वह असाम्प्रदायिक धर्म है, इसलिए उसकी आचार-सहिता राजनीति के धर्म के रूप मे स्वीकृत हो सकती है। एक कोण से देखें तो यह नैतिकता की आचार-सहिता है, दूसरे कोण से देखें तो राजनीति के धर्म की आचार-सहिता है—

अणुव्रत की आचार-संहिता

१. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नही करूंगा।
२. मैं आक्रमण नही करूगा।
  ० आक्रामक नीति का समर्थन नही करूगा।

- विश्व-शांति तथा नि.शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूगा ।

३ मैं हिंसात्मक एव तोडफोड-मूलक प्रवृत्तियो मे भाग नही लूगा ।

४. मैं मानवीय एकता मे विश्वास करूगा ।

- जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊच-नीच नही मानूंगा ।
- अस्पृश्य नही मानूगा ।

५ मै धार्मिक सहिष्णुता रखूगा ।

- साप्रदायिक उत्तेजना नही फैलाऊगा ।

६. मैं व्यवसाय और व्यवहार मे प्रामाणिक रहूगा ।

- अपने लाभ के लिए दूसरे को हानि नही पहुचाऊगा ।
- छलनापूर्ण व्यवहार नही करूगा ।
- मैं इन्द्रिय-सयम की साधना करूगा ।

७. मैं संग्रह अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का निर्धारण करूगा ।

८ मैं चुनाव के सम्बन्ध मे अनैतिक आचरण नही करूगा ।

- मैं प्रलोभन और भय से मत प्राप्त नही करूगा ।
- मैं प्रतिपक्षी प्रत्याशी का चरित्र-हनन नही करूगा ।
- मैं मतदान और मतगणना के समय अवैध तरीको को काम मे नही लूगा ।

९ मैं सामाजिक कुरूढियो को प्रश्रय नही दूगा ।

१०. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊगा ।

- मादक तथा नशीले पदार्थो—शराव, गाजा, चरस, हेरोइन, भाग, तम्वाकू आदि का सेवन नही करूगा ।

११ मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा ।

- हरे-भरे वृक्ष नही काटूगा ।
- पानी का अपव्यय नही करूगा ।

किसी सम्प्रदाय की अवधारणा से राष्ट्र को शासित करना जितना खतरनाक है, उतना ही खतरनाक है धर्मविहीन राजनीति से राष्ट्र को संचालित करना । इसलिए राजनीति के धर्म पर अवश्य चिन्तन होना चाहिए ।

८. धर्म-निरपेक्ष राज्य का धर्म

धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना

हम इस वात पर ध्यान दें—धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना क्या है ? अणुव्रत का धर्म-निरपेक्ष राज्य के साथ गहरा आत्म-सवध है। धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल सिद्धांत दो हैं। पहला है—धर्म आतरिक विश्वास की वस्तु है। यह वाह्य शक्ति या दण्ड-शक्ति का विषय नही है। यह प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक चेतना का विश्वास है। दूसरा है—धर्म और राजनीति के पार्थक्य मे विश्वास।

ये दो सिद्धात क्यो विकसित हुए, इसकी भी हम मीमासा करें। इतिहास का सदर्भ लें। एक समय था, जब राज-धर्म चलता था। जो राजा का धर्म होता, वह सभी को पालना होता था। जहां राज-धर्म की स्वीकृति है, वहा धार्मिक स्वतन्त्रता पर कुठाराघात अवश्यभावी है, उस समय कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता से धर्म का पालन नही कर सकता था। इतिहास का एक पृष्ठ है—राजा ने यह घोषणा करवा दी—मेरे राज्य मे दूसरे धर्म का कोई व्यक्ति नही रह सकता। यह जो वलात् धर्म-परिवर्तन की वात थी या राज्य के साथ धर्म को जोडने की प्रवृत्ति थी, उसमे राजनीति और धर्म—दो नही रह गए थे। धर्म व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विषय नही रहा, वह राज्य के अधीन हो गया। लवे समय तक यह स्थिति चली। धर्म के नाम पर न जाने कितने-कितने अनर्थ हुए, हजारो-लाखो आदमी धर्म परिवर्तन के नाम पर कत्ल कर दिए गये। यह एक चक्र चलता रहा, जिसका औचित्य समझ से परे है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न

वस्तुत. धर्म राज्य से ऊपर की वात है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से जुड़ा प्रश्न है। उस धर्म को जव राज्य के साथ जोड़ने की स्थितिया वने तो अधेरे के सिवाय और क्या हो सकता है ? जहा

धर्म और राजनीति – दोनो एकमेक हो जाते हैं, वहां उजला दिन आता ही नही है। धर्म-निरपेक्ष राज्य को ही दिन का उजला प्रकाश मिलता है।

यह कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है—धर्म और राजनीति के पार्थक्य मे विश्वास। हमने इस बात को स्वीकार किया—धर्म और राजनीति का गठबधन नही होना चाहिए। जहा भी धर्म के साथ राजनीति जुडती है, वहा मानवीय स्वतत्रता का हनन हुए बिना नही रह सकता। वहा धार्मिक परतत्रता की त्रासदी भोगनी होगी, धर्म-परिवर्तन का कुचक्र चलेगा और धर्म के नाम पर हिंसा का दौर भी चलेगा।

इस वैज्ञानिक युग मे हम स्वतत्रता की बात करते हैं। आज का समाज-विज्ञान प्रत्येक व्यक्ति की स्वतत्रता को स्वीकार कर रहा है। लोकतत्र स्वतत्रता का पक्षधर बना हुआ है। इस स्थिति मे धर्म और राजनीति—दोनो को एक करने की बात समझ में नही आती। धर्म-निरपेक्ष राज्य शब्द भ्रामक अवश्य है, पर उसके जो सिद्धात है, वे बहुत उपादेय हैं।

मूल हृदय

धर्म-निरपेक्ष राज्य का मूल हृदय है—राज्य धर्म के मामले मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करेगा। वह किसी धर्म को मान्यता नही देगा, सब धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा, किसी धर्म के साथ भेदभाव नही बरतेगा। वह राज्य के सचालन मे सामाजिक विकास का ध्यान रखेगा। भौतिक ससाधनो का विकास कैसे हो सकता है? जनता की पीडा को कम कैसे किया जा सकता है? इन विषयो की चिंता करेगा, जब तक कि कोई धर्म समाज विकास मे बाधा न पहुचाए। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म की पूरी स्वतत्रता है। कोई भी व्यक्ति कही भी कैसी भी उपासना करे, सरकार की ओर से उस पर कोई प्रतिबन्ध नही है। यह है धर्म-निरपेक्ष राज्य की परिकल्पना।

क्या है राज्य का धर्म

प्रश्न उभरा - राज्य का कोई धर्म नही है। इस स्थिति मे क्या धर्म के बिना राज्य ठीक चलेगा? क्या राज्य का कोई धर्म नही होना चाहिए? यह एक समस्या भी है। राज्य के जो मूल

कूटस्थनित्यवाद को स्वीकार करता है। दर्शन की भिन्नता होने पर भी जहा आचार का प्रश्न है, वहा सभी दर्शन कहेगे—किसी को सताओ मत, मारो मत। अणुव्रत के पीछे किसी दर्शन को नही जोडा गया। उसके पीछे न नित्यानित्यवाद को जोड़ा गया, न क्षणिकवाद और कूटस्थनित्यवाद को जोडा गया, न ब्रह्मवाद और प्रकृतिवाद को जोड़ा गया, न ईश्वरवाद और निर्वाणवाद को जोड़ा गया। आचार के जो मूल बिन्दु है, जो मानव को मानव बनाए रखते है, मानवता के धरातल को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं, मानव-चरित्र को उन्नत बनाते है, उन सकल्पो की व्यवस्था या आचार-संहिता अणुव्रत है, इसीलिए यह एक व्यापक और सार्वभौम धर्म है।

आचारशुद्धि का प्रकल्प

भगवान् महावीर ने कहा—ऐसा व्यक्ति, जिसने कभी धर्म को नही सुना है, वह भी धर्म का अधिकारी बन सकता है। जैन दर्शन मे **'असोच्चा केवली'** का निदर्शन मिलता है। जिस व्यक्ति ने कभी धर्म को नही सुना, वह अपनी आतरिक विशुद्धि की प्रखरता से कैवल्य को उपलब्ध हो सकता है। अणुव्रत एक ऐसा धर्म है, जो आतरिक विशुद्धि और आचार-शुद्धि का प्रकल्प है। यदि इसका ठीक मूल्याकन किया जाए तो एक नई क्राति हो सकती है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का स्वरूप एव अवधारणा अणुव्रत जैसे सार्वभौम धर्म के लिए ऊर्वरा भूमि है, इस सचाई की स्वीकृति धर्म-निरपेक्ष राज्य के सदर्भ मे उभरने वाली समस्याओ का समाधान बन सकती है।

९. राष्ट्र की अपेक्षा

भारतीय राजनीति मे महामात्य चाणक्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होने पूरे राज्य का सचालन किया पर जीवन एक संन्यासी की तरह जीया। मुद्राराक्षस ग्रन्थ मे उनका जो वर्णन है, वह हृदयवेधी और मार्मिक है—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयाना,
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एष।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
रुपनतपटलानां दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥

तब और अब

चाणक्य एक कुटिया मे रहता था। वहा कुछ उपले पड़े थे। कुछ पत्थर पडे थे। कुछ खाने का सामान पड़ा था। इतनी साधारण कुटिया, इतने सामान्य उपकरण, जिन्हे देखकर यह कल्पना नही की जा सकती थी कि इस कुटिया मे रहने वाला किसी राज्य का सर्वेसर्वा है, सचालक है। एक दिन एक विदेशी व्यक्ति चाणक्य की उस कुटिया मे आया। उस समय कुटिया मे दीया जल रहा था। विदेशी से बातचीत शुरू हुई। महामात्य उठे। उन्होने उस दीये को बुझाकर नया दीया जला दिया। विस्मित विदेशी ने पूछा—महामात्यवर! आपने यह क्या किया? जब दीया ही जलाना था, तो पहले वाला बुझाया क्यो? चाणक्य ने कहा—महाशय! इतने देर मैं अपना काम कर रहा था इसलिए मेरे घर का दीया जल रहा था। अब मैं सरकारी काम कर रहा हू इसलिए सरकारी दीया जल रहा है। विदेशी यह सुनकर अवाक् रह गया।

आज क्या स्थिति है? केवल सरकारी अधिकारियो द्वारा किए जाने वाले फोन के बिल देखें। लाखो-लाखो रुपयो के बिल हैं। शायद उनका पूरा भुगतान भी नही हो पाता। बहुत बार प्रश्न होता है—इतना बजट क्यो? इतनी फिजूलखर्ची क्यो? आज सरकारी

कर्मचारी अपने निजी कार्यों के लिए सरकारी ससाधनो का कितना उपयोग करते है। यह दुरुपयोग एक समस्या बनी हुई है। एक वह प्रामाणिकता थी और एक आज की स्थिति है। तब और अब मे कितना अन्तर है ?

दिल वदल गया

राज्य मे भयकर अकाल था। सर्दी का मौसम आया। चाणक्य की कुटिया के बाहर नए कबलो का ढेर लगा था। गरीबो को वाटने के लिए कवल आए थे। एक चोर वहा चोरी करने पहुच गया। नए कबलो को देख कर उसका मन ललचा गया। वह एक क्षण के लिए झोपडी मे झाका। उसने देखा— महामात्य चाणक्य एक पुराना-सा कबल ओढे हुए है। चोर ने सोचा—बाहर इतने नये और भव्य कबल पडे है पर महामात्य फटा-पुराना कबल ओढे हुये हैं। उसका दिल बदल गया। उसने चुराने का विचार त्याग दिया और विना कबल उठाये लौट पडा।

यह ऐसा वर्णन है, जो आज विश्वसनीय नही लगता। व्यक्ति सोच सकता है—क्या ऐसा हो सकता है ? क्या यह सभव है ? भैरोसिह शेखावत कहते हैं—मैंने पहला चुनाव सत्तावन रुपये मे लड़ा। क्या सत्तावन रुपये मे चुनाव लडा जा सकता है ? यदि आज शेखावत यह बात कहते तो शायद कोई विश्वास नही करता। वस्तुत कुछ बाते वडी अविश्वसनीय होती हैं, जिन पर भरोसा नही किया जा सकता। क्या ऐसा हो सकता है, यह प्रश्न सशय के घेरे से मुक्त नही हो पाता।

भ्रष्टाचार की जड़

महामात्य कौटिल्य ने कहा—**अर्थमेव प्रधानमिति कौटिल्य**। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष— इन चार पुरुषार्थों का वर्णन करते हुये कौटिल्य ने लिखा—कुछ लोग धर्म को प्रधान मानते हैं, कुछ काम को प्रधान मानते हैं। अर्थ ही प्रधान है—यह मेरा मत है। आज सचमुच पूरे समाज का वातावरण अर्थ मे प्रभावित है। राजनीति भी समाज का अग है, उसमे अलग नही है। सव अर्थ के चक्रव्यूह मे फसे हुये हैं। अर्थ की प्रधानता है किन्तु यह मूल समस्या नही है। जो मूल समस्या है, उस ओर हमारा ध्यान कम जा रहा है। आज भ्रष्टाचार की समस्या से पूरा देश आंदोलित है। राजनीति,

व्यवसाय, उद्योग —चारो ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है किन्तु मुझे लगता है यह भी मूल समस्या नही है। मूल समस्या है सुविधावादी दृष्टिकोण। अनेक विदेशी आक्रमण हुये, हमारी सस्कृति को नष्ट करने के प्रयास किये गये पर वे किसी भी माध्यम से भारतीय सस्कृति को आघात नही पहुचा सके, किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे वडी-वडी कपनियो ने, वहु-उद्देशीय, वहुराष्ट्रीय कपनियो ने सुविधा के अधिकतम साधन उपलव्ध कराकर चेतना को जिस प्रकार सुलाया है, शायद इससे पहले कोई नही सुला सका। इतनी सुविधा की दृष्टि वन गई है, जिसकी कोई सीमा नही है। कोई भी मत्री वनेगा तो वह क्या करेगा ? समाज का हर व्यक्ति अच्छी सुविधा भोग रहा है, तो वह उससे कैसे वच पायेगा ? यही सुविधावाद भ्रष्टाचार की समस्या की जड़ है।

यही समस्या है

पारसभाई जैन, अणुव्रत समिति के अध्यक्ष थे। एक दिन वे अपने मित्र से मिलने गये। वे पहले मत्री थे फिर मत्री पद से मुक्त कर दिये गये। पारसभाई को देखते ही वे रोने लग गये। पारसभाई ने कहा—क्या वात है ? आप इतने वडे आदमी हैं। आपने इतना काम किया है। आप क्यो रो रहे हैं ? मित्र ने कहा - पारसभाई ! और कोई वात नही है। मेरा लडका सुवह-सुवह गाड़ी मे वैठकर कॉलेज जाता था, मेरी लडकी भी गाडी मे ही जाती थी। मेरे पास कितने लोग आते-जाते रहते थे। आज मैं मत्री नही रहा। गाडी छिन गई। मेरे लडके किस गाड़ी मे जाए ? यदि मैं किसी रिक्शे या तागे मे उन्हे भेजू तो अच्छा नही लगेगा। न कोई पूछने आता है और न कोई मिलने आता है। पारसभाई ! यही समस्या मुझे रुला देती है।

मूल समस्या है सुविधावादी दृष्टिकोण

मूल समस्या है यह सुविधावादी दृष्टिकोण। भगवान् महावीर ने सवसे ज्यादा इसी पर प्रहार किया। प्रश्न हुआ—दुर्गति किसकी होती है ? महावीर ने कहा—जो व्यक्ति सुख और सुविधा के लिये आकुल रहता है, जो प्रिय सवेदन के लिये व्याकुल रहता है, जो ज्यादा सोता है, आरामतलवी का जीवन जीता है, उसे सुगति दुर्लभ होती है—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसायिस्स ।
उच्छोलणा पहोइस्स, दुल्लहा सुग्गई तारिसगस्स ॥

जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सुख-सुविधा और आराम का बन गया, उसे अधिकतम सुख-सुविधा और आराम चाहिये । ऐसे व्यक्ति की चेतना सो जाती है । जो त्याग की उदात्त भावना और चेतना भारतीय मानस मे थी उस भावना को इस सुविधावाद ने नष्ट कर दिया । यदि हम सहिष्णुता की भावना को बढाए, सुविधावादी दृष्टिकोण को कम करे तो सभव है जो भ्रष्टाचार या अर्थ का अनाचार है, उसमे भी परिवर्तन आये ।

त्याग की शक्ति बढे

दिल्ली मे मैत्री दिवस का आयोजन था । उसका उद्घाटन करते हुये राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—आचार्यश्री ! आप मुझे कोई पद देना चाहे तो मैं अणुव्रत के समर्थक का पद लेना चाहूगा । आचार्यश्री ने तत्काल कहा— राजेन्द्र बाबू ! मैं आपको यह पद देना नही चाहता । मैं चाहता हू आप अणुव्रती का पद ले, न कि अणुव्रत के समर्थक का । भारत का राष्ट्रपति अणुव्रती होगा तो त्याग की परम्परा राजनीति मे आगे बढेगी ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है—त्याग की शक्ति कैसे बढे ? त्याग की चेतना कैसे जागे ? जो भोगवाद, सुविधावादी दृष्टिकोण और भ्रष्टाचार बढ रहा है, वह कम कैसे हो ?

राष्ट्र की अपेक्षा

समाचार पत्र मे पढा धर्म को राजनीति से अलग करने वाला विधेयक लाया जा रहा है । कितना अच्छा होता, इसके स्थान पर राजनीति मे धन को अलग करने का विधेयक लाया जाता । इसमे ज्यादा परिवर्तन नही करना पडता, केवल रकार को हटाना पडता और मकार का नकार हो जाता । यदि ऐसा विधेयक आता तो पूरे देश का वातावरण बदलता, विश्व का वातावरण बदलता, भ्रष्टाचार के उन्मूलन के सकल्प को बल मिलता ।

आज सचमुच पुनर्विचार की जरूरत है । विचार के लिये त्यागी, तपस्वी चाहिये, सूझ-बूझ अन्तर्दृष्टि और काम करने की गहरी क्षमता से सम्पन्न व्यक्तित्व चाहिये । त्याग और प्रतिभा—

दोनों मिलकर कुछ करें, यह आज के लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। लोकतन्त्र शुद्ध और पवित्र रह सके, ऐसे वातावरण की नितांत अपेक्षा है। त्याग, नैतिकता, प्रामाणिकता को शक्ति को राजनीति से अलग कर दिया गया, तो क्या बचेगा? आज सचमुच एक अपेक्षा है - त्याग की शक्ति के द्वारा वातावरण को बदलने मे शक्ति लगे, उसमे अणुव्रत और आचार्य तुलसी का योग हो। इससे लोकतत्र के विशुद्धिकरण की सम्भावना प्रबल हो पायेगी। आज राष्ट्र की यही अपेक्षा है। इस अपेक्षा की अनुभूति लोकतंत्र को पवित्रता का सबल आश्वासन है।

१०. समस्या का मूल : गरीबी या चारित्रिक-पतन

गरीबी की समस्या बड़ी है या अपराध की ? विचार की एक तरग उठी—गरीबी की समस्या बड़ी है। इसलिए कि वह अपराध को जन्म देती है। दूसरी तरंग ने पहली तरग का प्रतिवाद किया—अपराध की जड़ गरीबी में नही है, वह आसक्ति मे है।

आवश्यकता और आसक्ति

आवश्यकता और आसक्ति के मध्य भेदरेखा खीचना नही जानते इसलिए हर बार अपराध गरीबी का मुखौटा पहन कर हमारे सामने आता है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति गरीबी को मिटाने की चिन्ता करता है, आसक्ति की ओर उसका ध्यान नही जाता। आसक्ति जल मे काई की भाति तैरती रहती है। गरीबी और अपराध—दोनों नगर की परिक्रमा करते है।

दैहिक आवश्यकता

आसक्ति ने आवश्यकता के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया। ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ करते हैं। वे प्रवृत्ति करते हैं, आसक्ति के खप्पर को भरने के लिए। वह कभी भरा नही जाता। इस अपूर्णता की वेदी पर अपराध जन्म लेते हैं।

रोटी, पानी, कपडा और मकान—यह दैहिक आवश्यकता का वर्ग है। यह आवश्यकता वास्तविक होती है।

काल्पनिक आवश्यकता

काल्पनिक आवश्यकता का सम्बन्ध मनोजगत् से है। वह वास्तविक नही होती। उसकी जीवन के लिए अनिवार्यता नहीं है। नशे की प्रवृत्ति काल्पनिक आवश्यकता है, जो आज की भीषणतम समस्या है और गरीबी का मुख्य हेतु है। हजारो-लाखो परिवार नशे की प्रवृत्ति के कारण अभाव की जिन्दगी जी रहे है। नशे की प्रवृत्ति मे फसे हुए अभिभावक अपने बच्चों की पढाई की व्यवस्था नही कर पाते। वे चिकित्सा और रोटी की व्यवस्था करने मे भी असफल

रहते हैं। प्रसाधन सामग्री के प्रति भी वढा हुआ आकर्षण काल्पनिक आवश्यकता के वर्ग का है। यह भी वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति मे बाधक बनता है।

आकांक्षा का वर्ग

तीसरा वर्ग आकाक्षा का है। उसका सबंध इन्द्रिय-जगत् से है। पांच इन्द्रियो के पांच विषय हैं शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श। इन्द्रिय की प्रेरणा से आकाक्षा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। इस वैज्ञानिक युग ने आकाक्षा-पूर्ति की साधन-सामग्री अतिमात्रा में उपलब्ध कराई है। उसका परिणाम यह हुआ कि आकाक्षा की पूर्ति ने अब घोर अतृप्ति का रूप ले लिया है। आज का विद्यार्थी वर्ग टी. वी देखने मे जितना रस लेता है, उतना पढाई मे नही लेता। आज के बाजार जीवन की अतृप्ति बढाने के लिए उतनी सामग्री बेच रहे हैं, जितनी शरीर के लिए आवश्यक नही है। इस आकाक्षा के वर्ग का भी परोक्षतः गरीबी को बढाने मे हाथ है।

आसक्ति का वर्ग

आसक्ति का वर्ग भाव-जगत् के स्तर पर कार्य करता है। मनुष्येतर सभी प्राणी ज्ञान की अपेक्षा भाव के स्तर पर अधिक जीते हैं। मनुष्य मे शेष सब प्राणियो की अपेक्षा ज्ञान अधिक विकसित है, फिर भी उसका आचरण और व्यवहार ज्ञान से उतना प्रभावित नही होता, जितना भाव-चेतना से प्रभावित होता है। आसक्ति का प्रभाव बहुत अधिक है। उसके साम्राज्य मे यथार्थ की आवश्यकता पर्दे के पीछे चली जाती है। काल्पनिक आवश्यकता को खुलकर खेलने का मौका मिलता है। इस समस्या मे सामाजिक प्रतिष्ठा के मूल्य और मानदण्ड सामने आते है। अमुक व्यक्ति दुनिया का सबसे बड़ा धनी है, उसके पास दस हजार करोड डॉलर धन है। अमुक आदमी के पास आठ हजार करोड डॉलर की पूजी है। ये प्रतिष्ठा-सूचक अक गरीबी को वैसे पालते हैं, जैसे मा प्यार और दुलार के साथ प्रिय पुत्र को। इस आसक्ति से जन्म लेने वाले संग्रह को न कोई राज्यसत्ता रोक पा रही है और न कोई अर्थशास्त्रीय नियम उसे नियंत्रित कर पा रहा है। उसे नियन्त्रित करने वाली एक ही सत्ता है अथवा एक ही नियम है, वह है अतीन्द्रिय-चेतना के स्तर पर

उत्पन्न होने वाली अनासक्ति।

परिभाषा का आधार

आसक्ति के एकछत्र साम्राज्य मे गरीबी की समस्या का समाधान हो सके, यह कठिन है। यदि उत्पादन सामग्री की बहुलता के कारण वह हो जाए तो अपराध, आत्महत्या, परहत्या, मानसिक तनाव, मादक वस्तुओं के सेवन की अधिकतम प्रवृत्ति, तस्करी के द्वारा अधिकतम उपार्जन की मनोवृत्ति—इनकी बाढ को रोकना संभव नही है। आर्थिक सपन्नता के आधार पर विकसित कहलाने वाले राष्ट्र इस त्रासदी को भोग रहे है। जब तक विकसित राष्ट्र और विकसित समाज की परिभाषा आर्थिक संपन्नता और साधन-सामग्री की प्रचुरता के आधार पर होगी, तब तक गरीबी की समस्या का निदान सभव नही है। वह समाज और राष्ट्र विकसित है, जिसका चरित्र बल उन्नत है। इस परिभाषा मे समस्या का समाधान छिपा हुआ है।

गरीबी दृश्य समस्या है। उसकी पृष्ठभूमि मे अदृश्य समस्या है चरित्र का पतन। चरित्र का पतन और आसक्ति की प्रबलता—दोनो का तात्पर्यार्थ भिन्न नही है। चारित्रिक विकास के लिए अनासक्ति का प्रशिक्षण जरूरी है और गरीबी की समस्या को सुलझाने के लिए चारित्रिक विकास जरूरी है। प्रतीक्षा है किसी आध्यात्मिक नेतृत्व की, जो इस समस्या को सुलझा सके।

११. भारत की गरीबी के लिए कौन जिम्मेदार ?

गुजराती मे लिखा हुआ गुणवत शाह का एक लेख पढा। शीर्षक था—भारत की गरीबी के लिए बुद्ध, महावीर और शकराचार्य जवाबदार हैं। यदि अनेकात का दर्शन मेरे सामने नही होता तो मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया होती कि लेख असत्य का पुलिदा है। अनेकात से मिला है हर विचार मे सत्याश खोजने का दृष्टिकोण। लेख का प्रतिपाद्य है—बुद्ध, महावीर और शकराचार्य। इन तीनो के जीवन-दर्शन का फलित है—जीवन का नकार (नेगेशन ऑफ लाइफ)।

जीवन के दो पक्ष

जीवन के दो पक्ष हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। काम और अर्थ—यह जीवन का सकारात्मक पक्ष है। धर्म और मोक्ष—यह जीवन का नकारात्मक पक्ष है। सकारात्मक पक्ष और नकारात्मक पक्ष -दोनों मिलकर जीवन को परिपूर्ण बनाते हैं।

भौतिक विकास के लिए काम और अर्थ जरूरी है। भौतिक विकास के साथ आने वाली विकृतियो को दूर करने के लिए धर्म और मोक्ष की अवधारणा जरूरी है। गुणवत शाह के तर्क मे सत्याश नही है, यह नही कहा जा सकता। धार्मिक जगत् में समाज और धर्म की भूमिका का भेद स्पष्ट नही है। धार्मिक लोग समाज की भूमिका मे सामाजिक कर्तव्य को नकार रहे हैं। गरीबी की व्याख्या धर्म के आधार पर कर रहे है। जिसने बहुत धर्म किया, वह अमीर बन गया। जिसने बहुत अधर्म किया वह गरीब बन गया। अमीरी और गरीबी का सबध धर्म से जुड़ा हुआ है। इसमे समाज-व्यवस्था का कोई योग नही है। इस मिथ्या धारणा ने एक चिन्तक को यह सोचने के लिए विवश किया है कि धर्म गरीब को गरीबी भोगने के लिए प्रोत्साहन दे रहा है, गरीबी को मिटाने की दिशा में बढते कदमो को कुठित कर रहा है।

धर्म प्रतिपादन का उद्देश्य

बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य भारत की गरीबी के लिए

उत्तरदायी हैं। इस प्रतिपादन मे सत्याश है। बुद्ध ने धर्म का प्रतिपादन निर्वाण के लिए, महावीर ने धर्म का प्रतिपादन मोक्ष के लिए और शकराचार्य ने धर्म का प्रतिपादन ब्रह्म मे लीन होने के लिए किया था। इन तीनो प्रवचनो का सामाजिक भूमिका से प्रत्यक्ष सबध नही है। इनका सीधा सबध आत्मा की परम अवस्था से है। यदि इनका सबध समाज की भूमिका से होता तो इनके अनुयायियो की स्थिति असामाजिक होती और आर्थिक स्थिति सर्वाधिक कमजोर होती, किंतु प्रत्यक्ष दर्शन इसके विपरीत है।

समाज : वर्तमान स्थिति

बौद्ध धर्म का अनुयायी देश जापान आज आर्थिक दृष्टि से विश्व का प्रथम पक्ति वाला देश है। जापान ने छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। जापान के औद्योगिक चमत्कार पर बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया जा रहा है। हडताल, घेराव, तालाबदी आदि आज की औद्योगिक सभ्यता के प्रतीक बने हुए हैं। इस स्थिति मे जापान की औद्योगिक शाति सबके लिए आश्चर्य का विषय बनी हुई है। जापानी चरित्र मे सामंजस्य का आधार बौद्ध धर्म को माना जा रहा है। आज भी जापानी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के सामने ईश्वर का खड़ा होना पसद नही करते। ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नही हिलती, इसके विपरीत उन्होने पुरुषार्थ के बिना एक पत्ती भी नही हिलती, के चरित्र का विकास किया है।

भारतीय समाज मे जैन समाज सपन्नता की दृष्टि मे किसी से पीछे नही है। इस समाज मे न कोई भिखारी है, न कोई भूख से पीड़ित है और न कोई गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाला है। यदि गरीबी के लिए महावीर का दर्शन जिम्मेवार होता तो सबसे पहले जैन समाज उस गरीबी का शिकार होता। शंकराचार्य का अनुयायी वेदान्ती भी आर्थिक दृष्टि से कमजोर नही है।

गरीबी का कारण

सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने पर पता चलता है—समाज मे गरीबी धर्म के प्रभाव से नही है, किन्तु समाज-धर्म का समुचित विकास न होने के कारण बढी है। मोक्ष-धर्म अथवा आत्म-

धर्म समाज-धर्म का स्थान कभी नही ले सकता और उसे लेना भी नही चाहिए। समाज की व्यवस्था का सचालन समाज-धर्म के द्वारा ही हो सकता है। समाज-धर्म के अभाव मे वैयक्तिक दृष्टिकोण और स्वार्थ को पनपने का अधिक अवसर मिला। सामुदायिक दृष्टि का विकास कम हुआ या नही जैसा हुआ। स्वार्थ के बाद सीधी परमार्थ की चर्चा होती रही। परमार्थ का सम्बन्ध धर्म अथवा मोक्ष से है। उससे समाज व्यवस्था को प्रभावित किया जा सकता है, किन्तु सचालित नही किया जा सकता। स्वार्थ चेतना और परार्थ चेतना —इन दोनो का सतुलित विकास होता तो आकाश को छूने वाली अमीरी और गरीबी की रेखा से नीचे जीने को विवश करने वाली गरीबी कभी नही होती।

दृष्टिकोण का विपर्यय

गणाधिपति तुलसी ने बहुत वर्ष पहले कहा था—व्यक्ति को जहा समाजवादी बनना चाहिए, वहा वह व्यक्तिवादी बना हुआ है और जहा व्यक्तिवादी बनना चाहिए, वहां वह समाजवादी बना हुआ है। आर्थिक सम्पदा के क्षेत्र मे दृष्टिकोण सामाजिक होना चाहिए, वहा वह सोलह आना व्यक्तिवादी है। वह कहता है—मुझे धन मिला है, यह मेरे पुण्य का फल है। कोई गरीबी भोग रहा है, वह उसके पाप का फल है। पूरा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण। व्यवसाय मे अनैतिक आचरण मत करो, इसका उत्तर मिलता है—सब कर रहे हैं फिर मैं अकेला कैसे बच सकता हू। पूरा समाजवादी अथवा समूहवादी दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण का विकास धर्म और समाज —दोनो के भूमिका-भेद को न समझने का परिणाम है।

अमीरी का स्रोत

धर्म ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण साधना के लिए दिया और निवृत्ति का सूत्र भी बुराइयो से बचने के लिए दिया। समाज की भूमिका में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और निवृत्तिवाद सापेक्ष हो सकता है, निरपेक्ष नही। धर्म की भूमिका के सूत्रो का समाज मे मनमाना प्रयोग समाज के लिए समस्या का हेतु बन सकता है। भारत के मध्यकालीन समाज ने मोक्ष-धर्म का अविवेकपूर्ण प्रयोग किया इसलिए धर्म अथवा धर्म के प्रवर्तको को गरीबी के लिए जिम्मेवार ठहराने का दृष्टिकोण बन सकता है। धन पौद्गलिक अथवा भौतिक

पदार्थ है। उसके विकास का स्रोत साधन-सामग्री और तकनीक है। जहा मूल्यवान् खनिज पदार्थ निकले, उस स्थान के निवासी सहज ही धनवान् बन गए। बड़े-बड़े उद्योगो ने देश या समाज को वैभव-सम्पन्न बना दिया। धन के साधन-स्रोतो का ज्ञान अथवा उनका विकास नही हुआ था, तब तक वहा के निवासी गरीबी में श्वास ले रहे थे। साधन-स्रोतो का पता चलने और विकसित होने पर उस प्रदेश के लोग अमीरी का जीवन जी रहे हैं। इसमे कोई धर्म और पाप का चमत्कार नही है।

मूल कारण

गरीबी का मूल धर्म की अवधारणाओ मे खोजने पर समस्या का सही समाधान नही होगा। उसका मूल कारण अकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता, कर्म का अकौशल और साधन-सामग्री का अभाव होता है। समाज और अर्थ की दुर्व्यवस्था भी उसका एक कारण है। शराब, मादक द्रव्यो का सेवन, विलासितापूर्ण सामग्री का उपभोग, प्रदर्शन और आडबर—ये सब व्यसन अथवा अर्द्धव्यसन गरीबी का पालन-पोषण करने वाले है। हम उस सत्याश को भी अस्वीकार नही कर सकते - धर्म की एकांगी अवधारणाओ ने भी कर्मनिष्ठा को दुर्बल बनाया है। कर्म अथवा प्रवृत्ति मे आसक्ति न हो, इस सिद्धात का उपयोग कम किया गया, कर्म के त्याग की बात पर अतिरिक्त बल दिया गया। आवश्यक है—धर्म को अनेकात के सदर्भ मे समझने का प्रयत्न किया जाए, गरीबी के कारणो की भी सापेक्षदृष्टि मे मीमासा की जाए, समस्या का समाधान सरल होगा।

१२. नये मनुष्य का जन्म हो

अधूरी सचाई

नये समाज की रचना का स्वप्न बहुत मधुर है। प्रश्न है— नये समाज की रचना कौन करे ? क्या पुराना आदमी नये समाज की रचना कर पाएगा ? आदमी पुराना रहे और समाज नया बन जाए, यह सभव नही है। नये समाज के निर्माण के लिये नये आदमी का जन्म होना जरूरी है। समाजवाद ने नये समाज की कल्पना की, ऐसा समाज, जिसमे पदार्थ पर व्यक्ति का अधिकार न हो। कल्पना सुन्दर एव सुखद है। समस्या यह हुई– समाज रचना की कल्पना की गई और व्यक्ति रचना की बात छोड दी गई। व्यक्ति और समाज—दोनो को एक साथ लिए बिना कोई बात पूरी नही हो सकती। किसी एक की उपेक्षा करने से कोई भी कार्य सफल नही होगा।

समस्या है पदार्थ की आसक्ति

हमारे सामने दो परम्परित प्रणालिया है—समाजवादी प्रणाली और लोकतत्रीय प्रणाली। दोनो ही पदार्थनिष्ठ हैं। हमे एक ऐसी प्रणाली की जरूरत है, जो पदार्थ से परे चिन्तन करे। पदार्थ की आसक्ति ने समस्या को उलझाया है। विषमता पैदा करने मे सबसे वडा हाथ रहा है आसक्ति और मूर्च्छा का। जितनी आसक्ति उतनी विषमता, जितनी अनासक्ति उतनी ही समता। समाजवाद ने एक दिशा दी– पदार्थ पदार्थ है, उस पर किसी व्यक्ति का एकछत्र अधिकार नही है। वह समाज का है तथा उसका उपयोग समाजहित मे होना चाहिए। इसमें एक सीमा तक अध्यात्म की भाषा आ गई। उसमे मात्र भाषा थी किन्तु हृदय नही था। पदार्थ किसी का नही है, यह व्यवस्था कर दी गई, पर हृदय-परिवर्तन नही किया गया। सिद्धांत और व्यवस्था के साथ हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया चलनी चाहिए थी, वह नही चली। उसके अभाव मे व्यवस्था ठप्प हो गई। इस एकांगिकता ने सारे सिद्धात को

ही निष्प्राण बना दिया। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया को आवश्यक नही माना गया। उसका परिणाम यह आया—जहां अनासक्ति का विकास होना था वहा सत्ता के प्रति गहरी आसक्ति का भाव जागा। व्यक्ति ने सत्ता को हथियाने मे ही अपनी सारी शक्ति नियोजित कर दी। व्यक्ति मे यह चिन्तन प्रबल बना—वह कैसे सत्ता पर आए और तानाशाह बनकर सत्ता को अपने हाथ मे ले।

हिंसा : मूल स्रोत

लोकतत्र मे यह स्पष्ट स्वीकृति है—पदार्थ पर व्यक्ति का अधिकार है। पदार्थ को व्यक्ति भोग सकता है, उसे अधिकृत कर सकता है। ऐसा करना अनुचित नही है। इस व्यवस्था से भी पदार्थ के प्रति आसक्ति मे न्यूनता नही आई। न तो समाजवादी प्रणाली मे पदार्थ की आसक्ति कम हुई और न लोकतन्त्र मे ही वह समाप्त हुई, किन्तु उसे और अधिक वल मिला। ऐसी स्थिति मे समता की वात नही सोची जा सकती। हिंसा का मूल स्रोत है पदार्थ के प्रति मूर्च्छा। पदार्थ को आसक्ति जितनी गहरी होगी, हिंसा उतनी ही सघन होती चली जाएगी। आसक्ति का चक्र तोड़ने मे यदि धार्मिक अवधारणा को साथ रखा जाता तो समाजवाद को सफल होने मे सहयोग मिलता।

अनासक्त चेतना का जन्म

धर्म ने प्रारम्भ से ही अनासक्त चेतना का निर्माण किया था, मूर्च्छा की चेतना को तोडने का अभिक्रम प्रस्तुत किया था। परिभाषा दी गई—प्रमाद अधर्म और अप्रमाद धर्म। इस एक शब्द मे महावीर का पूरा धर्म-दर्शन आ गया। प्रमाद यानी आसक्ति, मूर्च्छा। अप्रमाद यानी जागरूकता। धर्म है पदार्थातीत चेतना। सभी धर्मो ने पदार्थातीत चेतना की ओर प्रस्थान किया। इसमे सफलता भी मिली। समाजवाद कहता है—पदार्थ भी स्वतत्र है, उस पर तुम्हारा कोई अधिकार नही। तुम चेतन हो, वह अचेतन है। धर्म ने केवल इस सिद्धांत का प्रतिपादन ही नही किया किन्तु उसके साथ हृदय-परिवर्तन का प्रयोग भी प्रस्तुत किया। धर्म के क्षेत्र मे ऐसे व्यक्ति पैदा हुए, जिनकी पदार्थ के प्रति आसक्ति समाप्त हो गई। धर्म ने नये आदमी को जन्म दिया पर आर्थिक और राजनैतिक प्रणालियो ने नये आदमी को पैदा नही किया। आसक्ति

कम न हो, मूर्च्छा न टूटे और नये समाज का निर्माण हो, यह कैसे सभव है ?

परिवर्तन का सूत्र : अनित्यता

धर्म ने जो सूत्र दिए वे हृदय-परिवर्तन के सूत्र है। धर्म का एक सूत्र है अनित्यता। जिस पदार्थ के साथ तुम्हारा सयोग हुआ है, उसका निश्चित वियोग होने वाला है। इस अनित्यता की अनुभूति कराई गई। अनुभूति का एक माध्यम बना—मृत्यु का साक्षात्कार। कहा गया —जब मृत्यु आती है तब सब पदार्थ यही रह जाते हैं। कुछ भी साथ नही जा सकता। यह अनित्यता की ओर उत्प्रेरित करने वाला तथ्य है। अनित्यता के प्रशिक्षण की बहुत लम्बी परम्परा चली है और आज भी चल रही है। इस भावना को प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे अवतरित करने के प्रयास किए—अनुभव करो, सब कुछ अनित्य है। जिसका सयोग हुआ है, उसका वियोग निश्चित होगा। सब छूट जाएगा। इस अनित्यता के सूत्र ने हृदय-परिवर्तन को सभव बनाया है।

एकत्व-बोध

दूसरा सूत्र बना एकत्व का। कहा गया—तुम अकेले आए हो, अकेले जाओगे। जब जन्मे तब कुछ भी साथ नही लाए, जब मरोगे तब कुछ भी साथ नही ले जाओगे। इस क्षणिक सयोग को यथार्थ क्यो मान रहे हो ? इसे ही सत्य क्यो समझ रखा है ? यह सयोग है, मात्र उपयोग के लिए है। इसके अतिरिक्त इसका कुछ भी मूल्य नही है। इस एकत्व-बोध ने हृदय-परिवर्तन मे बड़ा योग दिया।

अन्यत्व-बोध

तीसरा सूत्र दिया अन्यत्व बोध का। यह सच है, पदार्थ के बिना हमारा काम नही चल सकता। आदमी पदार्थ पर इतना आश्रित है कि और कुछ देखता ही नही। हमारी इन्द्रियो का सत्य पदार्थातीत नही है। इन्द्रियो की सारी शक्ति पदार्थ की ओर प्रस्थित है। हमारे ज्ञान का मूल स्रोत है इन्द्रियां और वे पदार्थाभिमुख हैं। फिर उनके प्रति आसक्ति प्रबल क्यो ? इन्द्रिय चेतना पदार्थ की ओर जा रही है। इस स्थिति मे भी धर्म ने यह सचाई प्रस्तुत की—पदार्थ उपयोगी है, जीवन-यात्रा पदार्थ पर अवलबित

है। सब कुछ है फिर भी तुम पदार्थातीत हो, चेतन हो। इस अन्यत्व-बोध ने पदार्थ के प्रति गहराती आसक्ति को तोड़ने मे योग दिया। हृदय-परिवर्तन का एक सूत्र बन गया भेदविज्ञान। जब हम इस अनुभूति मे जाते है—'मैं पदार्थ नही हू' तब सारी बाधाए टूटने लगती हैं।

समस्या का हेतु

अन्यत्व का बोध, एकत्व का बोध और अनित्यता का बोध- इन तीन सूत्रो ने हृदय-परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। केवल राजनैतिक प्रणाली या प्रशासनिक प्रणाली हृदय को नही बदल सकती। समस्या यह हुई– व्यवस्थाए बहुत बढी पर हृदय-परिवर्तन के प्रशिक्षण का उपक्रम नही चला। एक प्रकार का लगड़ापन आ गया। एक पैर चलता गया, दूसरा पिछड़ गया। यदि व्यवस्था के साथ धर्म का योग किया जाता तो एक नई दिशा मिलती, एक नये मनुष्य का जन्म होता और एक नया समाज आकार पाता।

समाजवाद का सत्य : पूजीवाद का सत्य

बहुत बार ऐसा होता है—आदमी सत्याश को पकडकर उसे ही पूर्ण सत्य मान लेता है। एक सत्याश है—उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार रहेगा। दूसरा सत्याश है—उत्पादन के साधनो पर व्यक्ति का अधिकार रहेगा। एक समाजवाद का सत्य है और दूसरा पूजीवाद का सत्य। सचाई दोनो मे है किन्तु आशिक सचाई है। आशिक सत्य को समग्र मान लिया और दोनो ही अधूरे रह गए। नये समाज के निर्माण मे हमे अनेकान्त का अधिक से अधिक उपयोग करना होगा। ऐसा करने पर ही नए समाज के निर्माण की सभावनाएं पुष्ट बनेंगी।

अनेकांत का मत

अनेकात का मत है—किसी सत्याश को समग्र मानकर मत चलो। उत्पादन पर समाज का अधिकार हो, यह सचाई फलित कब होगी? जब व्यक्ति मे सहकारिता की भावना जगा दी जाए और यह भावना जग जाए कि सभी को श्रम करना ही होगा, तब यह सचाई साकार रूप लेगी। व्यक्ति मे व्यक्ति-चेतना काम कर

रही है और उसके सामने प्रणाली है सहकारिता की, इस स्थिति में अन्तर्विरोध पैदा होगा। पूंजीवादी प्रणाली में यह भी माना गया —व्यक्ति स्वार्थी होता है। वह स्वार्थ की सीमा से आगे जा नहीं सकता। यह सत्यांश है पर इसके साथ इस बात को भुला दिया गया—वह कैसे अपने जीवन मे स्वार्थ की पवित्रता लाए। वह कैसे स्वार्थ के दोष को कम करे? उसका हृदय कैसे बदले? इस पर ध्यान नही दिया गया। इन दोनों एकांगी प्रकल्पो ने समस्या को सुलझाने में योग नही दिया।

समग्र दृष्टिकोण

मनोवैज्ञानिक मानते हैं—मौलिक मनोवृत्तियों को बदला नही जा सकता। सचमुच मनोवृत्ति मे बदलाव लाना बडा कठिन काम है। पदार्थ के साथ इतना गहरा लगाव हो गया है कि उससे अलग होना सहज नही है। यह एक चुनौती है समाजवाद के सामने। क्या हम मौन होकर बैठ जाए? नही, ऐसा नही हो सकता। हमे कुछ बदलने की बात सोचनी होगी और बदलने के लिए समग्र सत्य को साथ लेकर चलना होगा। हम दोनो बातो को साथ लेकर चलें। नए समाज का निर्माण करना है तो साथ-साथ नए व्यक्ति का निर्माण भी करना है। इसका अर्थ है—यदि उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार स्थापित करना है तो साथ-साथ व्यक्ति की चेतना को भी बदलना है, उसका हृदय-परिवर्तन भी करना है। यदि उत्पादन के साधनो पर व्यक्ति का अधिकार स्थापित करना है तो व्यक्ति को अनासक्ति की दीक्षा से दीक्षित करना होगा। ये दोनो सचाइयां साथ चलेंगी तो एक समग्र दृष्टिकोण विकसित होगा। उस अवस्था मे ही नए समाज की रचना की बात सोची जा सकती है।

१३. नए समाज की रचना

इतिहास के आदिकाल से मनुष्य विकास की कल्पना करता रहा है। उसमें आगे बढने की मनोवृत्ति रही है। वह जैसा है, उसमे सतोष नही है किन्तु कुछ बदलने और नया करने की भावना है। एक मौलिक मनोवृत्ति है—'अकडं करिस्सामि'—जो किसी ने नही किया, वह मैं करूंगा। इसी मनोवृत्ति ने व्यक्ति को समाज के स्तर पर आगे बढने की प्रेरणा दी है। व्यक्ति आगे बढना चाहता है और समाज का भी नव-निर्माण चाहता है। वह स्वस्थ समाज की रचना करना चाहता है, शोषण-मुक्त या अहिंसक समाज की रचना करना चाहता है।

रुग्ण समाज : स्वस्थ समाज

समाज की दो स्थितियां हैं—रुग्ण समाज और स्वस्थ समाज। जिस समाज मे सामाजिकता और परस्परता नही होती, संवेदनशीलता और आश्वासन नही होता, वह रुग्ण समाज होता है। जिस समाज मे आश्वासन, परस्परता, सामाजिकता और सवेदनशीलता होती है, वह होता है स्वस्थ समाज। कल्पना की गई—स्वस्थ समाज का निर्माण करे। इसके निर्माण के लिए ध्यान गया अर्थ-व्यवस्था पर। अगर अर्थ-व्यवस्था समीचीन नही है तो समाज स्वस्थ नही बनेगा। अर्थ-व्यवस्था के दो पक्ष है—एक है राज्य नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था। दूसरी है खुली अर्थ-व्यवस्था – राज्य के नियंत्रण से मुक्त अर्थ-व्यवस्था। दोनो प्रकार के प्रयोग किए। लोकतत्र मे खुली अर्थ-व्यवस्था रही और साम्यवादी प्रणाली मे अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण किया गया। नियत्रित अर्थ-व्यवस्था का कारण था --अमीर लोग गरीबों का शोषण न कर सकें।

स्वस्य समाज रचना के प्रयत्न

वास्तविकता यह है – दोनो ही प्रणालियो ने स्वस्थ समाज की रचना कर पाने मे सफलता प्राप्त नही की। जहा राज्य का

नियंत्रण है वहां व्यक्ति में अकर्मण्यता का भाव आया। आगे बढने की जो मनोवृत्ति थी, उस पर प्रभाव पड़ा। जहां खुली अर्थ-व्यवस्था थी वहां दूसरी स्थिति बनी। आज दुनिया की जनसख्या पांच अरब से ज्यादा है, किन्तु इस सचाई को अस्वीकार न करें। दुनिया में जितनी सपदा है, उसके पचास प्रतिशत भाग पर थोड़े से लोगो का आधिपत्य है। यह खुली अर्थ-व्यवस्था का प्रयोग भी स्वस्थ समाज की रचना मे सहयोगी नही बना और राज्य नियत्रित अर्थ-व्यवस्था भी सहयोगी नही बनी।

समाजवादी प्रणाली : नई समस्या

समाजवादी प्रणाली मे सबसे ज्यादा इस बात पर ध्यान दिया गया—गरीबो का शोषण न हो। अमीर और गरीब—ये दोनों वर्ग मिटे। यह कल्पना चली तब शासक और शासित—ये दो नए वर्ग बन गए। शासक के लिए बहुत सी सुविधाएं और प्रजा के लिए कोई सुविधा नही। नई समस्या पैदा हो गई। समाजवादी राष्ट्रो के शासकों का जो चरित्र सामने आया है, उससे लगता है—सत्ता केन्द्रित होते ही मनुष्य की सुविधावादी मनोवृत्ति प्रबल और निरकुश हो जाती है। वह सिद्धात को समाप्त कर देती है। साम्यवाद की जो कल्पना की गई, वह कही की कही रह गई और शासक स्वय शोषक बन गया। खुली अर्थ-व्यतस्था की प्रणाली मे शोषण चलता ही रहा। कुछेक व्यक्तियो के पास ही धन केन्द्रित होता गया। शेष व्यक्ति अभावग्रस्त होते चले गए। उस अभाव ने समाज को स्वस्थ और शोपण मुक्त नही बनने दिया। जिस अर्थ व्यवस्था पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया, उसने भी प्रवचना कर दी।

कारण क्या है ?

हमारा जीवन दो धाराओ में प्रवाहित है—वस्तु-जगत् और भाव-जगत्। परिवर्तन के प्रयोग हुए हैं, सब वस्तु-जगत् को बदलने के लिए हुए हैं। भाव-जगत् पर ध्यान ही नही दिया गया। केवल यही मान लिया गया—अर्थ-व्यवस्था सुधरी, राजनैतिक प्रणाली बदली और समाज व्यवस्था बदल जाएगी। इस सचाई को समझने में हमारी बहुत बडी भूल हुई है। सबसे पहले हम निदान करें—समाज बीमारी और शोपण से घिरा हुआ क्यों है ? कारण

क्या है ? सही निदान तब होगा जब हम भाव-जगत् मे प्रवेश करेंगे ।

अहं की समस्या

निदान का पहला निष्कर्ष होगा— अह की समस्या ने समाज को रुग्ण बनाने मे बहुत वडी भूमिका निभायी है । जितना भी प्रदर्शन चलता है वह अह के लिए चलता है । व्यक्ति अपने बड़प्पन को दिखाने के लिए प्रदर्शन करता है । जिस मकान मे १०० आदमी रह सके, उतना वडा भव्य मकान बनाएगे पर उसमे रहने वाले होगे दो-चार आदमी । उस विशाल मकान के पीछे अहं प्रदर्शन की भावना काम कर रही है । एक व्यक्ति ने एक करोड की पोशाक पहनी, एक व्यक्ति ने आठ करोड़ की पोशाक पहनी । वह पोशाक अहं का प्रतिविम्व है । समाचार पत्र मे पढा— एक संन्यास लेने वाले व्यक्ति की पोशाक छियासठ लाख की थी । ये सब किसलिए ? सारा कार्य अहं प्रेरित हो रहा है । यह एक ऐसी दौड है, जिसने आवश्यकता के पक्ष को गौण कर दिया, अनुपयोगिता एवं प्रदर्शन के पक्ष को उभार दिया । जीवन की सामान्य आवश्यकता कम आय वाला व्यक्ति भी पूरी कर लेता है, एक लखपति भी पूरी कर सकता है, एक करोडपति भी कर सकता है । प्रत्येक आदमी रोटी खाता है, सोना-चादी नही खाता । इतनी आवश्यकता की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है । किंतु अह की चेतना से प्रभावित व्यक्ति सोचता है—दुनिया के धनपतियो मे प्रथम नाम मेरा ही आए । यह स्पर्धा है । इस अह की समस्या ने जगत् की समस्या पर पर्दा डाल दिया और उसे ज्यादा उलझा दिया ।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

दूसरी समस्या है व्यक्तिवादी दृष्टिकोण । व्यक्ति केवल अपने और अपनो के लिए सोचता है । एक सीमा वन गई—मेरे लिए तथा मेरे अपनो के लिए सारी सुविधा प्राप्त करनी है । यह गलत दृष्टिकोण वन गया । दुकानदार मिलावट करके माल वेचता है पर अपने लिए शुद्ध माल लाएगा । कारण क्या है ? अपने लिए और अपनो के लिए सुविधा जुटाने का दृष्टिकोण काम करता है । दो प्रकार के दृष्टिकोण है—अपने लिए अलग और दूसरो के लिए

अलग। इस विभक्त दृष्टिकोण ने समाज को बहुत रुग्ण बनाया है, समस्याग्रस्त बनाया है।

भोगवादी दृष्टिकोण

तीसरी समस्या है—भोगवादी दृष्टिकोण। आदमी प्रत्येक पदार्थ का भोग चाहता है। वर्तमान की आर्थिक व्यवस्था और अवधारणा ने व्यक्ति को भोगवादी बनाया है। खूब कमाओ और खूब भोगो। उत्पादन अधिक, अर्जन अधिक और भोग अधिक—ये जीवन के तीन सूत्र मान लिए गए। इस दृष्टिकोण ने कुछ लोगो को भोगी बना दिया, कुछ लोगो को अभावग्रस्त और दीन-हीन बना दिया। भोगवादी दृष्टिकोण सचमुच एक समस्या बन गया।

अधिकार की मनोवृत्ति

चौथी समस्या है—अधिकार की मनोवृत्ति। छोटे से छोटे प्राणी मे, पेड-पौधे मे भी अधिकार की मनोवृत्ति होती है। यह मौलिक मनोवृत्ति है। सारी समस्याओ का मूल है–अधिकार की मनोवृत्ति। इसमे सबका समावेश हो जाता है। इसे सग्रह या परिग्रह की मनोवृत्ति भी कहा जा सकता है। व्यक्ति सबको अपने अधिकार मे रखना चाहता है। व्यक्ति की इस मनोवृत्ति से अनेक समस्याए उलझती हैं।

अहिंसा के प्रशिक्षण का अर्थ

हम केवल अर्थ-व्यवस्था को बदलने पर ध्यान केन्द्रित करें, नई प्रणालियो को विकसित करने की बात सोचें और भावजगत् की बिलकुल उपेक्षा कर दें तो समस्या का समाधान कभी नहीं होगा। समाधान के लिए दोनो पर ध्यान देना होगा। वस्तु-जगत् भी एक सचाई है और भाव-जगत् भी एक सचाई है। हम एक सत्य को मानकर चलें और दूसरे को नकार दें तो ऐकान्तिक आग्रह बन जाएगा और समस्या का समाधान नही होगा। समाधान तब होगा जब दोनो सचाइयो को साथ लेकर चले। एक ओर वस्तु-जगत् मे परिवर्तन लाने का प्रयत्न चले, दूसरी ओर भाव-जगत् में भी परिवर्तन लाने का प्रयत्न चले। अहिंसा के प्रशिक्षण का अर्थ भी इन दोनो सचाइयो से जुड़ा हुआ है। वस्तु-जगत् मे परिवर्तन नही होता है तो हिंसा बढेगी। भाव-जगत् मे परिवर्तन नही होता है

तो हिंसा को अधिक पनपने का मौका मिलेगा।

मूल्य है भाव-जगत्

हम अनेकांत का प्रयोग करे, दोनों सचाइयो को एक साथ समझें, सही निर्णय ले, बीमारी का सही निदान होगा। केवल वस्तु-जगत् ही सब कुछ नही है, उसके साथ भाव-जगत् का भी बहुत मूल्य है। यदि हमारा भाव-जगत् सुलझा हुआ है तो वस्तु-जगत् भी सुलझा हुआ, साफ-सुथरा नजर आएगा।

वस्तु-जगत् से भी ज्यादा मूल्यवान् है भाव-जगत्। अगर भाव-जगत् स्वस्थ है तो वस्तु-जगत् का परिष्कार करने में काफी सुविधा हो जाएगी। जटिलता हो रही है भाव-जगत् मे और उसका प्रतिविम्व पड रहा है वस्तु-जगत् पर। अहिंसा का प्रशिक्षण भाव-जगत् का प्रशिक्षण है। इसका सबध समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के साथ है पर सबसे घनिष्ट सबध है भाव-जगत् के साथ।

अहं का परिष्कार

अहिंसा के प्रशिक्षण का सबसे पहला बिन्दु होगा—अहं का विसर्जन, अहं के परिष्कार का प्रशिक्षण। इसका फलित होगा—समानता की वृत्ति का जागरण। विषमता कौन पैदा करता है? विषमता का कारण है—अहकार। आधुनिक विज्ञान की खोजो का निष्कर्ष है—उत्तेजना, जल्दबाजी, शीघ्रता, आगे बढने की चेष्टाएं। ये हृदय रोग को जन्म देती हैं। अहकार के विलय का प्रशिक्षण दें तथा उसके अनुरूप ही अर्थ-व्यवस्था की बात सोचे, समानता की दृष्टि जागती चली जाएगी। जब समानता की दृष्टि बढेगी तो विषमता की बात कम होती चली जाएगी। अहिंसक समाज-रचना की दिशा मे एक नया विकल्प हमारे सामने आएगा।

परस्परता का दृष्टिकोण

दूसरी समस्या है—व्यक्तिवादी दृष्टिकोण। उसके परिष्कार का सूत्र है परस्परोपग्रह—परस्परता का दृष्टिकोण जागृत करना। एक आदमी दूसरे के बिना जी नही सकता, एक व्यक्ति दूसरे का आलम्बन लिए बिना जी नही सकता, इस सचाई को अस्वीकार करने के कारण ही समाज बीमार बना है। एक पैर चले, दूसरे को आगे न बढाएं तो क्या होगा? गति अवरुद्ध हो जाएगी।

सापेक्षता और परस्परता का होना जरूरी है। आचार्य उमास्वाति का यह कथन—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—इसी सचाई का निर्देश सूत्र है।

त्याग की चेतना का प्रशिक्षण

तीसरा तत्त्व है—त्याग की चेतना का प्रशिक्षण। आज भोगवादी दृष्टिकोण को प्रवल होने का वहुत मौका मिलता है। यह धारणा वन गई—जीवन का सार है पदार्थ। इस मिथ्या धारणा को तोड़ना होगा। भोग जीवन की अनिवार्यता है तो त्याग उसका अलकरण है। पोजिटिव और निगेटिव—दोनो का योग होता है तो विजली जलती है। भोग के साथ-साथ त्याग का होना भी जरूरी है।

विसर्जन

चौथा तत्त्व है—विसर्जन। अभ्यास के द्वारा इस वृत्ति को जगाया जाए। धन का अर्जन भी करो तो उसके कुछ अश का विसर्जन भी करो। अगर एक रुपया कमाया है तो एक पैसे का जरूर विसर्जन करो। खाते चले जाए और उत्सर्ग न करें तो क्या होगा? अर्जन और विसर्जन—दोनो आवश्यक हैं।

अहिंसापरक चेतना की अवधारणा

स्वस्थ समाज की रचना के लिए इन चारों विन्दुओ पर ध्यान देना होगा—

१. अहं विलय की चेतना का जागरण।
२. परस्परता की चेतना का जागरण।
३. त्याग की चेतना का जागरण।
४. अर्जन के साथ विसर्जन की चेतना का जागरण।

यह एक नई अवधारणा है, अहिंसापरक चेतना की अवधारणा है।

१४. व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अहिंसा

केवल सूई होती, धागा नही होता तो वस्त्र-खड अलग-अलग होते, एक नहीं बनते। सूई और धागे के संयोग से ही अनेक वस्त्र-खड मिलकर एक बनते हैं। यदि व्यक्ति कोरा व्यक्ति होता तो सब व्यक्ति अलग-अलग रहते पर एक धागा है, जो व्यक्तियो को जोड देता है और एक समाज वन जाता है। वह जोड़ने वाला तत्त्व है हृदय-परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन का तत्त्व नही होता तो व्यक्ति अकेला ही रहता, कभी समाज नही बनता।

रोटी और स्वतत्रता

वर्तमान युग में व्यक्ति स्वातंत्र्य की मांग बहुत है। मनु ने लिखा—**सर्वं परवशं दु ख सर्वमात्मवशं सुखं**—परवश जो कुछ है, वह दु.ख है और स्वतत्र जो कुछ है, वह सुख है। एक सूत्र बन गया—स्वतत्र रहकर रूखा-सूखा खाना भी अच्छा है, परतंत्र रहकर चुपड़ा हुआ खाना भी अच्छा नही है। आज लोकतंत्र का युग है। कोई भी व्यक्ति रोटी के लिए परतंत्र वनना नही चाहता। वह चाहता है—रोटी भी मिले और व्यक्तिगत स्वतत्रता भी सुरक्षित रहे। दोनों साथ-साथ मिले। स्वतंत्रता का मूल्य अनिर्वचनीय है। सामाजिक, आर्थिक या व्यावहारिक क्षेत्र मे दो प्रयोग चले—साम्यवाद का प्रयोग और लोकतत्र का प्रयोग। साम्यवाद में व्यक्ति-स्वातत्र्य पर नियन्त्रण किया गया। उसमे निजीकरण की वात को समाप्त किया गया, सामुदायिक नीति पर वल दिया गया। परिणाम यह हुआ—उत्पादन क्षमता मे मंदता आ गई और आर्थिक विकास मे समाज पिछड़ गया। लोकतत्र मे व्यक्ति-स्वातत्र्य को मूल्य दिया गया। इससे उत्पादन क्षमता तीव्र हो गई पर अर्थ का बंटवारा न्यायोचित नही हो सका। बंटवारे मे विपमता होने से समाज का जो विकास होना चाहिए था, वह नही हो पाया। अमीर और ज्यादा अमीर हो गए, गरीव और ज्यादा गरीव हो गए।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और संविभाग

तीन बाते समाज के लिए जरूरी मानी गई है—

१. उत्पादन की क्षमता

२. उत्पादित सम्पत्ति का सम्यक् बटवारा

३. व्यक्ति-स्वातंत्र्य

समस्या यह है—जहां व्यक्ति की स्वतत्रता है वहा सविभाग नही है। जहा सविभाग है वहां व्यक्ति का स्वातत्र्य नही है। यह स्थिति कैसे सुलझे ? यह जटिल पहलू है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य भी रहे तथा समस्या भी न आए। इसका समाधान है—व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अहिंसा का योग। इन दोनो को एक साथ नही देखेंगे तब तक समस्या का समाधान नही होगा। जो सबसे विषम पहलू है बटवारे का, उसका समाधान नही हो सकेगा। व्यक्ति समाज-सापेक्ष है। कुछ सीमा व्यक्ति की अपनी होती है और कुछ समाज के साथ जुड़ी रहती है। समाज-सापेक्ष वैयक्तिक सीमा को समझना भी आवश्यक है। कुछ यथार्थ व्यक्ति से जुड़े हुए हैं। जैसे व्यक्ति खाना खाता है, उसे पचाता है, यह उसकी वैयक्तिकता है किन्तु वपन से लेकर रोटी पकने तक की जो प्रक्रिया है, वह सब समाज-सापेक्ष है। एक व्यक्ति खेती करता है, एक व्यक्ति अनाज का विनिमय करता है, एक व्यक्ति अनाज की पिसाई करता है, एक व्यक्ति रोटी पकाता है फिर व्यक्ति उस रोटी को खाता है।

उपादान है व्यक्ति

कारणो का सबध समाज से होता है, उपादान का सबध व्यक्ति से होता है। समाज मे हिंसा के कारण बहुत हैं पर हिंसा का उपादान समाज नही है। उसका उपादान है व्यक्ति। समाज-सापेक्ष हैं व्यक्ति का जीवन। यदि समाज के प्रति हृदय-परिवर्तन नही होता है तो अहिंसा की बात सम्भव नही बनती। व्यक्ति केवल अपना हित करता है, दूसरे का नही करता तो सही अर्थो मे वह अपना हित नही करता है। क्योकि वह समाज से जुडा हुआ है। यह सूत्र होना चाहिए—समाज हित मेरा हित, समाज का कल्याण मेरा कल्याण। ऐसा होता है तो हिंसा को बढने का इतना अवसर नही मिलता।

स्वतंत्र कौन ?

प्रश्न है—हम स्वतन्त्र व्यक्ति किसे मानें ? समाज का कोई घटक स्वतन्त्र नही है, वह समाज से जुड़ा हुआ है। जिसका हृदय-परिवर्तन हो चुका है, वह व्यक्ति स्वतत्र है। जिसने अपने सवेगो पर नियत्रण कर लिया है, वह व्यक्ति स्वतन्त्र है। पदार्थ जगत् मे स्वतत्रता की एक परिभाषा है। वह भी बाह्य जगत् से जुडी परिभाषा है। स्वतन्त्रता ने इतना भ्रम पैदा किया है कि वास्तविक स्वतत्रता पर आवरण डाल दिया है। स्वतन्त्रता का अर्थ है आंतरिक गुलामी का नही होना। केवल वस्तु और पदार्थ जगत् के उपभोग को ही स्वतन्त्रता से जोड़ा गया इसीलिए विषमता का समाधान नही हुआ। अहिंसा की दृष्टि से बाह्य जगत् की स्वतन्त्रता और आन्तरिक जगत् की स्वतन्त्रता—दोनो पर विचार करना अपेक्षित है।

आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ

आन्तरिक स्वतन्त्रता का अर्थ है—हृदय-परिवर्तन या मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। हृदय-परिवर्तन के विना न्यायोचित वंटवारे की बात संभव नही वनेगी। बहुत से लोग गरीवो की सहायता करते हैं इसलिए कि गरीवी हिंसा का रूप न ले ले। ऐसे अहिंसा के प्रयोग चल रहे हैं किन्तु इनके साथ आतरिक परिवर्तन की वात नही जोडी गई। हिंसा पैदा होती है परिस्थितिजन्य। एक ओर वहुत साधन हैं, दूसरी ओर साधन स्वल्प हैं। इसी परिस्थिति में हिंसा के बीज अकुरित होते हैं। प्रश्न है यदि परिस्थिति का समीकरण कर दिया जाए तो क्या हिंसा मिट जाएगी ? वह समग्र रूप से नही मिटेगी किन्तु उसकी तीव्रता समाप्त हो जाएगी।

उत्तरदायी है व्यक्ति का मस्तिष्क

क्या सम्पन्न देशों में हिंसा नही है ? यदि हम सपन्नता के साथ अहिंसा की व्याप्ति स्वीकार कर लेते हैं तो वहुत वड़ी भ्रांति को जन्म देते हैं। संपन्नता मे जो विपन्नता जनित हिंसा होती है, केवल वही कम हो सकती है किंतु हिंसा का मूल उपादान है व्यक्ति का मस्तिष्क। उसे वदले विना अहिंसा की सभावना नही की जा सकती। पहले विकल्प उठता है फिर क्रिया होती है। पहले विचार पैदा होता है फिर उसका आचरण होता है। विचार का उद्भव

मस्तिष्क में होता है। जब तक मस्तिष्क को प्रशिक्षित नही किया जाता तब तक अहिंसक समाज रचना की बात सार्थक नही हो सकती।

पत्तो को सींचने का प्रयत्न

अहिंसक समाज रचना के संदर्भ मे बहुत प्रयोग चले। भूदान और संपत्तिदान का प्रयोग चला। सम्पन्न राष्ट्र विपन्न राष्ट्रो के लिए करोडो रुपयो का सहयोग करते हैं। क्या हिंसा मे कमी आई? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक भाषा मे नही दिया जा सकता। हमें स्वीकार करना होगा—हिंसा का सबसे बडा स्रोत हमारा दिमाग है। जब तक मस्तिष्क का प्रशिक्षण नही होता तब तक हम हिंसा को कम नही कर सकते। सामाजिक और वैयक्तिक—दोनो क्षेत्रो पर ध्यान देना होगा। एक ओर विपन्नता को कम करने के प्रयोग चलते हैं, दूसरी ओर न्यायोचित बंटवारे की उपेक्षा हो रही है। यह केवल पत्तों को सींचने का ही प्रयत्न है। सबसे बडी मांग है—न्यायोचित व्यवस्था, बटवारे में समानता।

विषमता का उत्स

प्राचीन मनीषियो ने कहा—कपडे को गंदा बनाकर साफ मत करो। उसे गंदा करो ही मत ताकि साफ करने की आवश्यकता ही न पडे। मैं किसी व्यक्ति या व्यवस्था विशेष पर प्रहार नही कर रहा हू। प्रहार है हमारी नीति और हमारी समझ पर। हमारी समझ यह हो कि हमें सहयोग करने की अपेक्षा ही न हो। हम प्रारम्भ से ही बटवारे के औचित्य पर ध्यान दे। मिल मालिक एक मिल मे कितना अर्जन करता है, उसका कितना भाग स्वय लेता है और कितना मजदूर को देता है, यह मूल बात है। मूल समस्या यही है। शायद वह नब्बे प्रतिशत स्वय लेगा और दस प्रतिशत मजदूरो को देगा। उन पर दया क्यो करे? किसी को विषम स्थिति मे डालकर उस पर उपकार करना, दया करना, बड़ी विचित्र बात है। यही पर हमारी समानता खण्ड-खण्ड होने लगती है, यही विषमता पनपती है।

न्याय का अतिक्रमण

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के अभाव मे यह स्थिति बनी है। विषमता के प्रति हमारे मन मे ग्लानि नहीं है, समता के प्रति हमारा

लगाव नही है। क्रूरता, लोभ, भोग और सुविधावाद—इनके प्रति दृष्टिकोण बदलता तो कभी ऐसा नही होता। क्रूरता का प्रक्षालन नही हुआ है, लोभ का परिमार्जन नहीं हुआ है, तभी ये समस्याए खड़ी हुई हैं। आज व्यक्ति-स्वातत्र्य है पर अहिंसा नही है। व्यक्ति-स्वातत्र्य है पर समता नही है। अगर समता होती तो समाज की प्रचुर सम्पत्ति पर कुछेक लोगों का ही अधिकार नही होता, सत्ता और सपदा केन्द्रित नही होती। आज नब्बे प्रतिशत लोगों को बड़े लोगो की कृपा पर जीना पड़ रहा है। यह सामाजिक न्याय का खुला अतिक्रमण है और हिंसा को खुला अवकाश। यथार्थ का आलम्बन लिए बिना कभी समस्या का समाधान हो नही सकता। कटु सत्य यह है—जो दृष्टिकोण सहयोग के लिए बना है, वैसी भावना बटवारे के समय बने। जो सहयोग और करुणा की भावना बाद मे प्रदर्शित करते है, वह भावना उत्पादित सपत्ति के बटवारे के समय बने। यदि ऐसा हो पाया तो समतापूर्ण, शोषणमुक्त समाज की रचना सभव बनेगी और एक अहिंसक समाज का सही निर्माण हो सकेगा और वह लोकतंत्र की स्वस्थता के लिए वरदान सिद्ध होगा।

१५. मानवीय संबंध कैसे सुधरे ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह रहता अकेले मे है पर जीता समाज में है। सामाजिक जीवन का अर्थ है सम्बन्धो का जीवन। यदि सम्बन्धो को निकाल दें तो सामाजिक जीवन समाप्त हो जाए।

सबंध का आधार

प्रश्न है मनुष्य के आपसी सबध किन तत्त्वो पर आधारित है? हिंसा पर आधारित हैं या अहिंसा पर? अह, घृणा, क्रूरता पर आधारित है या इनके प्रतिपक्ष पर। अह का प्रतिपक्ष है हीनभावना, घृणा का प्रतिपक्ष है विद्वेष और क्रूरता का प्रतिपक्ष है अपराध। इन पर यदि मानवीय संबंध आधारित हैं तो समाज मे हिसा बढती चली जाएगी। मार्क्स ने जो वर्ग-सघर्ष की चर्चा की, वह व्यर्थ नही है। दो वर्ग बन गए थे—एक मजदूर वर्ग और दूसरा मालिक वर्ग। एक पूजीपति वर्ग और दूसरा श्रमिक वर्ग। दोनो में परस्पर संघर्ष और कलह चलता था।

वर्ग क्यों बने ?

प्रश्न है—वर्ग क्यो बने? जहा अह, घृणा और क्रूरता के आधार पर सबंधों का निर्धारण होता है, वहा वर्ग की निर्मिति अवश्यभावी है। जहा अहिंसक समाज की रचना का प्रश्न है, वहा हमे आधारभूत परिवर्तन की बात सोचनी होगी। सबध किन आधारों पर बने? यदि अह के स्थान पर विनम्रता, समानता या समता का तत्त्व विकसित हो तो अहिंसक समाज की कल्पना की जा सकती है। बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया—**णो हीणे णो अइरित्ते**—कोई भी आत्मा हीन नही है और कोई भी आत्मा अतिरिक्त नही है। कोई बड़ा या छोटा नही है। जैसे-जैसे यह अवधारणा पुष्ट बनेगी अहिंसक की भित्ति सुदृढ बनेगी। इसमे अहं और हीनता, ये दोनो ग्रन्थियां नही रहेगी।

विभाजन का हेतु

एक तत्त्व है समानता का। घृणा के स्थान पर प्रेम का तत्त्व विकसित हो। हिन्दुस्तान में जाति का सस्थान वना और विदेशो मे वर्ग का सस्थान वना। जाति और वर्ग—दोनो मे ही घृणा के तत्त्व आ गए। रंग के प्रति घृणा शुरू हो गई। काले लोगों का तिरस्कार और गोरे लोगो का सम्मान—यह रग के आधार पर समाज के विभाजन का एक हेतु वन गया। जाति के आधार पर घृणा की धारणा वन गई। उसी के आधार पर छुआछूत की भावना पलती रही। वस्तुतः घृणा अह की संतुष्टि नही होती। घृणा का तत्त्व विकसित होता है दूसरे को हीन मानने पर, गुलाम वनाने पर। जहा प्रेम का विस्तार होता है वहां कोई किसी को गुलाम नही वनाएगा, सवको समानता का स्थान देगा।

समानता का स्वर

आचार्य मानतुग ने भगवान् ऋषभ की स्तुति मे लिखा—भगवन्! आपकी आराधना करने वाला आपके समान वन जाता है इसमे आश्चर्य ही क्या है? जो ईश्वर है, अर्हत् और तीर्थंकर है, वह यदि अपने भक्त को अपने समान नही वनाता है तो उस भगवान् से हमारा वास्ता ही क्या?

> **नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!**
> **भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त।**
> **तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,**
> **भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥**

यह अर्हत्वाद का एक वहुत वडा प्रकल्प है। जैन दर्शन ने जो समता की वात कही है, उसका पूरा निर्वाह होता है। ईश्वरवाद मे ऐसा नही होता, वहां ईश्वर ईश्वर ही वना रहता है और दूसरा नीचे ही रहता है, वह कभी ईश्वर नही वनता। जैन दर्शन में कहा गया—साधना करने वाला व्यक्ति एक दिन स्वय ईश्वर वन जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह एक उत्कर्ष का सिद्धांत है। सामाजिक दृष्टि से भी यह वहुत मूल्यवान् है। यदि मालिक मजदूर को अपने समान वना ले तो फिर अहिंसक समाज संरचना पर चिंतन करने की कोई आवश्यकता ही नही रहे। छोटे व्यक्ति को अपने समान वना लेना तभी संभव है जव व्यक्ति मे प्रेम

का विस्तार होता है ।

जब समाज मे क्रूरता पनपती है, तब अपराध बढते हैं । पहले छिपे-छिपे अपराध शुरू होते है । जब आदमी इसमे निपुणता प्राप्त कर लेता है तब वह व्यापक अपराध करता है। आतकवाद की पृष्ठभूमि मे भी क्रूरता और शोषण मुखर है। अभिव्यक्ति मे आतकवाद प्रतीत होता है किन्तु गहरे मे जाए तो क्रूरता या शोषण का तत्त्व ही मिलेगा । इन सारे संदर्भो मे मानवीय सबधों की मीमासा करनी होगी ।

संबंध : सापेक्ष चिन्तन

सबधो के बिना समाज और सामाजिक जीवन नही हो सकता, इसीलिए मुनि को सबधातीत कहा गया है। संजोगा विप्पमुक्कस्स—मुनि का जीवन सयोगातीत होता है। सामाजिक प्राणी का जीवन सम्बन्ध युक्त होता है । एक व्यक्ति सैकड़ो-सैकड़ो सबधो का जीवन जीता है । पारिवारिक, सस्थागत और राजकीय सबध चलते रहते हैं । इन सबधो की स्वस्थ भूमिका तैयार करना अपेक्षित है । ये सम्बन्ध किन तत्त्वो पर विकसित हो, इसका निर्धारण करना बहुत आवश्यक है । सामाजिक सबध की भूमिका मे एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—सापेक्ष चिंतन । बहुत से लोग निरपेक्ष चिन्तन करते है । निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है—मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआ ढह पड़े । सापेक्ष का स्वरूप चिन्तन है—मैंने रोटी खाई है और मेरा पड़ोसी भूखा है तो इसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नही होगा । वह चोर, डाकू या लुटेरा अवश्य बनेगा और मुझ पर ही आक्रमण करेगा । यह सापेक्ष चिन्तन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है । यह नही हो सकता कि समाज के ८० प्रतिशत आदमी गुलछर्रे उडाए और २० प्रतिशत आदमी भूखे मरते रहे । ऐसा कब तक चलेगा ? इस स्थिति मे प्रतिक्रियात्मक हिसा अनिवार्य हो जाएगी ।

सापेक्ष व्यवहार

दूसरा सूत्र है—सापेक्ष व्यवहार । सापेक्ष व्यवहार का स्वरूप है—इनके बिना मैं नहीं रह सकता । पति यदि पत्नी के साथ निरपेक्ष व्यवहार करना है तो पारिवारिक जीवन अस्वस्थ बन जाता है । पडोसी पड़ोसी से निरपेक्ष व्यवहार करता है तो कटुता

बढती है, शत्रुता पनपती है, न्यायालय के द्वार खटखटाने की स्थिति बन जाती है। निरपेक्ष व्यवहार मे स्थिति हमेशा बिगड़ जाती है।

करुणा का विकास

तीसरा सूत्र है— करुणा का विकास। करुणा समाज व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व है। जिस व्यक्ति में करुणा की चेतना जाग जाती है, उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। करुणा विकसित नही है इसीलिए एक व्यक्ति दूसरे का सहयोग नही करता। अगर करुणा का विकास हो जाए तो एक मिल मालिक मजदूर के प्रति कभी क्रूर व्यवहार नही कर सकता। वह मजदूर का शोषण नही कर सकता। श्रीमद् राजचन्द्र ने देखा—मैंने जिससे सौदा किया है, वह घाटे मे जा रहा है। उन्होने यह कहकर एग्रीमेंट का रुक्का फाड़ डाला—राजचंद्र दूध पी सकता है, किसी का खून नही पी सकता। यह है करुणा। सामाजिक सबधों का सबसे बड़ा सूत्र है करुणा। स्वामी, सेवक आदि तमाम सम्बन्धो का सूत्र होना चाहिए।

श्रम और देय का संतुलन

चौथा सूत्र है— श्रम और देय अर्थ का संतुलन। श्रम और देय अर्थ में सामंजस्य नही होता है तो कटुता उत्पन्न हो जाती है। एक सूत्र बना हुआ है—जितना काम उतना दाम। यह बड़ी विचित्र बात है। एक परिवार मे दस आदमी हैं और एक परिवार मे तीन आदमी हैं। काम दोनों ने बराबर किया तो दाम भी बराबर मिलेंगे। इस स्थिति में कैसे काम चलेगा ? यह विषमता बड़ी विकट समस्या पैदा कर देती है। दूसरा सूत्र प्रस्तुत हुआ, आवश्यकतानुसार दाम का। इससे भी समस्या सुलझ नही पाई। श्रम और देय अर्थ की संगति कैसे हो ? उसमे संतुलन कैसे हो ? जब हम अहिंसा की दृष्टि से सोचते हैं तो इस सूत्र को मुख्यता देनी होगी—कोई भी व्यक्ति भूखा न रहे, ऐसी व्यवस्था हो। इसका तात्पर्य है—श्रम-निष्ठा का विकास जरूरी हो, श्रम की पूजा हो। यह नही हो सकता—एक व्यक्ति अर्जन करे और शेष सभी खाएं। बीमार व्यक्ति के अलावा जो खाने वाला है, उसे स्वय क्षमतानुसार श्रम करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति यह संकल्प ले तो इस समस्या को एक

समाधान मिल जाए। तेरापथ धर्म सघ मे संविभाग की व्यवस्था है। पचास साधु है तो सभी को गोचरी जाना होगा। सब गोचरी जाते हैं, श्रम के सविभागी बनते हैं। सविभागिता का अतिक्रमण नही होना चाहिए। जहा सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न है वहां श्रम से जी चुराने की बात मान्य नही हो सकती। श्रम को सामजस्यपूर्ण और संतुलित मूल्य देना, इस सूत्र को अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार करना होगा, मानवीय सबधो को श्रम के आधार पर विकसित करना होगा।

इन सब विन्दुओ पर हम चिन्तन करे, लोकतन्त्र की अनेक समस्याओ का समाधान अवश्य निकल आएगा।

१६. हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

अहिंसा का अर्थ है हृदय-परिवर्तन । व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ है हृदय-परिवर्तन । हृदय-परिवर्तन के बिना व्यक्ति-स्वातंत्र्य को परिभाषित नही किया जा सकता और अहिंसा को भी समझा नही जा सकता ।

गलत अवधारणा

प्रश्न यह है—हृदय का परिवर्तन कैसे हो ? हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है दृष्टिकोण का परिवर्तन । व्यक्ति का दृष्टिकोण बहुत गलत बना हुआ है । मिथ्या अवधारणाएं रूढ बन गई हैं । यह मान लिया गया—मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नही है किन्तु यह जिस दृष्टि से कहा गया, उस दृष्टि से ग्रहण नही किया गया । विकास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है—प्राणी-जगत् मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है । इसका उपयोग इस रूप मे कर लिया गया—मनुष्य सृष्टि का स्वामी है । जितने पदार्थ हैं, सब मनुष्य के लिए हैं क्योकि वह सर्वश्रेष्ठ है । मनुष्य भोक्ता है, शेष सब भोग्य हैं, इसी दृष्टिकोण ने पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया । नियता, कर्ता और भोक्ता—तीनो ही मनुष्य बन गया । उसका पदार्थ एव प्राणी जगत् के प्रति दृष्टिकोण गलत हो गया । जितने प्राणी हैं, उन सब पर मनुष्य का अधिकार है । वह उनका दोहन कर सकता है, उनका आरोहण तथा आहार कर सकता है । प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियो के अवयवो एव चमडे का उपयोग कर सकता है । इस सारी क्रूरता का मूल स्रोत यही अवधारणा है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है । इसी धारणा ने मनुष्य को क्रूर और हत्यारा बनाया है ।

प्रदूषण का जिम्मा

मनुष्य अपने मनोरजन के लिए मुर्गों, खरगोशो और साडो को लडाता है । प्रसाधन के लिए कितनी हत्याएं होती हैं । प्राणी-जगत् के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण बिलकुल गलत है इसीलिए हजारों प्राणियों की प्रजातियां नष्ट होती चली जा रही हैं । प्रकृति

का अपना नियम है, सतुलन है। सव प्राणी मिलकर जीते हैं तो वातावरण शुद्ध रहता है, पर्यावरण प्रदूपित नही होता। पर्यावरण के संतुलन मे सवका योग है। मकडी वहुत सारे विपैले कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। जितने जीव है, पदार्थ हैं, वे सव प्रकृति के संतुलन को वनाए हुए हैं। संतुलन का एक व्यवस्थित क्रम वना हुआ है। मनुष्य ने हस्तक्षेप किया और सवको नष्ट करना शुरू कर दिया। इसका अर्थ है—मनुष्य ने पर्यावरण को प्रदूपित करने का जिम्मा ले लिया।

शृंखलावद्ध समस्याएं

प्राणी जगत् के प्रति दृष्टिकोण वदले, पदार्थ-जगत् के प्रति दृष्टिकोण वदले तो पर्यावरण की समस्या को समाधान मिल जाए। आज प्राकृतिक पदार्थों का अधिक दोहन हो रहा है। उससे संतुलन विगड रहा है। जिस प्रकार खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं, उससे सतुलन विगड रहा है। सभव है, १०० वर्ष वाद उनका अभाव हो जाएगा। पदार्थ के प्रति गलत दृष्टिकोण की यह भयावह निष्पत्ति है। प्राणियों का शोषण और पदार्थों का अतिरिक्त दोहन —ये दोनो दृष्टिकोण हिसा को जन्म दे रहे हैं। प्राणियो का शोपण, प्राकृतिक पदार्थों का अतिरिक्त दोहन, युद्ध और हिंसा—इन सभी समस्याओ को अलग-अलग नही देख सकते। ये सारी एक शृखला-वद्ध समस्याए हैं।

उपादान और निमित्त

भगवान् महावीर ने दो नयों के आधार पर एक नया दृष्टिकोण दिया। उन्होने कहा—निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्—दोनो को तोडकर मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते है। परिस्थिति नही वदलेगी तो समस्या का समाधान नही होगा। दूसरी ओर जो अध्यात्मवादी लोग हैं, उनका मत है—अन्तर्जगत् मे सुधार नही होगा, उपादान नही वदलेगा तो समस्या का समाधान नही होगा। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान—दोनो जुडे हुए हैं। उपादान शक्तिशाली है और निमित्त प्रतिकूल है तो उपादान कुछ नही कर पाएगा। निमित्त शक्तिशाली ह और उपादान नही है तो निमित्त कुछ नही कर पाएगा। जो घटित होता है, इन दोनो के

धारणा बना लेना क्रूरता को जन्म देना है। हम हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की मीमांसा करें। हमें सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलना होगा। यह बात समझ में आएगी तो समस्या का समाधान हो पाएगा।

१७. क्या संभव है अहिंसा का प्रशिक्षण

वर्षा का मौसम। आधी जुलाई बीत गई। वर्षा नहीं हुई। एक व्यक्ति अपने खेत मे गया। उसने देखा—खेत मे मिट्टी के सिवाय कुछ भी नही है। इस स्थिति मे सहज ही प्रश्न होगा—क्या यहां पौध सभव है ? फसल संभव है ? किन्तु जैसे ही वर्षा होती है, हल चलता है, बीज वपन होता है, पौध उगती है और दो-चार महीनों में फसल तैयार हो जाती है। फिर संभव-असंभव का प्रश्न सामने नही रहता। अहिंसा के लिए भूमि उर्वरा है। वर्षा नही हुई है, बीज का वपन नही हुआ है। सहज प्रश्न होता है—यहां क्या होगा ? हिंसा का बीज प्रत्येक व्यक्ति मे है। साथ-साथ अहिंसा का बीज भी प्रत्येक व्यक्ति में है। जिस बीज को जैसा निमित्त मिलता है, वैसा ही प्रस्फुटित हो जाता है। मनुष्य मे दोनो प्रकार के बीज हैं। किस प्रकार का निमित्त मिलता है, इसी पर सब कुछ निर्भर है।

हिंसा के बीज : पारिवारिक वातावरण

अहिंसा के प्रशिक्षण का सूत्र है—हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बनाकर अहिंसा के बीजो को जागृत करना। यह असभव नही है। आवश्यकता है बीज उगाने और पानी सींचने की। आज कौन सा बीज बोया जा रहा है ? चारो ओर हिंसा बढ रही है। यदि इस बीज का वपन नही होता तो यह फसल नही बढती। ध्यान देना है बीजो और निमित्तो पर। अहिंसा के बीज बोने के लिए प्रशिक्षण बहुत ही आवश्यक है। एक बच्चे को परिवार मे प्रारम्भ से हिंसा के सस्कार मिलते हैं। उसमे परिग्रह के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। वह देखता है जो भी मिलता है, पैसे से मिलता है। वह यह भी देखता है - पैसे को लेकर झगडा भी चलता है। उसमें यह सस्कार बैठ जाता है कि लडाई-झगडा कुछ भी हो, पैसा पास मे रहना चाहिए। उसने देखा - मांगने से पैसा नही मिला, लडाई की या धमकी दी तो पैसा मिल गया। एक सस्कार बन गया—क्रोध के बिना काम नहीं चलता। पूरे पारिवारिक वातावरण मे उसे

हिंसा के निमित्त मिलते हैं। सामाजिक वातावरण में भी हिंसा के निमित्त मिलते है। ये सारे वीज हिंसा के है और उनका फल अहिंसा हो, यह वात अटपटी-सी लगती है।

शिक्षा का वातावरण

आज शिक्षा का पूरा वातावरण भी हिंसा से अछूता नही है। विद्यार्थी इतिहास पढेगा तो निष्कर्ष निकलेगा—जिसकी लाठी उसकी भैंस। शक्ति नही है तो कुछ भी नही है। एक बच्चे मे यह विवेक नही होता कि शक्ति का उपयोग किस दिशा मे होना चाहिए ? अगर शक्ति का उपयोग ठीक नही होता है तो शक्ति स्वयं के पतन का कारण वन जाती है, दूसरो को पीड़ा देने में लग जाती है। आज वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा असीम शक्ति बढ़ गई, किंतु उस शक्ति का उपयोग विध्वस के लिए हो रहा है।

शक्ति के प्रयोग की दिशा

प्रश्न है—शक्ति का प्रयोग किस दिशा मे होना चाहिए ? मानव कल्याण में या मानव विध्वस मे ? इसके लिए आवश्यक है अहिंसा का प्रशिक्षण। आज शक्ति का वीस प्रतिशत भाग मानव कल्याण मे लगता है और अस्सी प्रतिशत शक्ति ध्वस मे लगती है। सभी मनुष्यो के सस्कार समान नही होते। हम यह कल्पना न करें कि सवके सव अहिंसा मे दीक्षित हो जाएगे। अहिंसा का प्रशिक्षण आवश्यक है, संभव भी है और उपयोगी भी है। यह सत्य है—सवके संस्कार समान नही है किंतु इससे जुड़ा सच यह भी है—वहुत लोगो में अहिंसा के सस्कार को जागृत किया जा सकता है।

प्रशिक्षण का उपाय

अहिंसा के प्रशिक्षण का उपाय क्या हो सकता है ? उसके दो उपाय हैं—सैद्धातिक वोध और प्रायोगिक वोध।

सम्यग् वोध और सम्यक् दर्शन, जिससे अवधारणाओ का परिष्कार करने का अवसर मिले, उसके साथ-साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण भी चले। केवल सिद्धान्त जान लेने से काम नही होगा। आन्तरिक परिवर्तन भी जरूरी है। मन को वीच की स्थिति मे रहना है, न इधर न उधर। वाहर से इन्द्रिय का दवाव मन पर पडता है और भीतर से आश्रवो का, संस्कार का दवाव पडता है।

वेचारा मन चचल और कमजोर वन जाता है। ऐसे मे हिंसा कैसे नही वढेगी ? हमे प्रशिक्षण के समय इस वात पर ध्यान देना होगा कि मन की चंचलता को कैसे कम करे ? यही है परिवर्तन का पहला सूत्र। जिसकी जितनी मानसिक चचलता प्रवल है उतना ज्यादा वह दु:खी होगा। जिसकी जितनी मानसिक चचलता कम है उतना ही उसका दु:ख कम होगा। दु.ख का सवध घटना के साथ नही है। उसका सवध है सवेदना के साथ। जितना मन चचल उतना अधिक सवेदन। जितना कम चचल मन उतना ही कम सवेदन। हिंसा भी इसी स्थिति मे होती है। जव तक व्यक्ति प्रतिशोध नही ले लेता तव तक मन शान्त नही होता।

जरूरी है आंतरिक परिवर्तन

मन की चचलता को कम करने के लिए जरूरी है आन्तरिक परिवर्तन। इसके लिए आवश्यक है ध्यान का प्रयोग। ध्यान के विना आन्तरिक शोधन सम्भव नही है। वृत्तियो और आश्रवो का शोधन है आन्तरिक शोधन। यह भीतर मे चले। वाहर मे इन्द्रिय का प्रत्याहार करते चलें। ये दोनो प्रक्रियाए चलेंगी तो अहिंसा के प्रशिक्षण की वात आगे वढेगी। आज आतरिक शोधन को नकार दिया गया। केवल कानून के सहारे कुछ भी नही हो सकता। हमे मुडकर धर्म की ओर प्रस्थान करना होगा। धर्म का अर्थ है इन्द्रिय पर एक सीमा तक नियन्त्रण, आतरिक वृत्तियो का शोधन। अहिंसा के प्रशिक्षण के लिए यही धर्म है। केवल शोधन—परिष्कार और नियन्त्रण, यही है अध्यात्म। इस दिशा मे प्रस्थान किए विना अहिंसा के प्रशिक्षण की वात सफल नही होगी। इसका अर्थ यह नही है कि व्यवस्था और कानून का कोई मूल्य नही है। उनका अपना मूल्य है किन्तु उन्हे सर्वथा मूल्य दे देना हमारी भूल है। अहिंसा के प्रशिक्षण की सार्थकता के लिए इस भूल का परिष्कार करना होगा।

आंतरिक समस्याए

हमारी वृत्तिया निमित्तो के साथ व्यक्त होती है। क्षेत्र, काल और परिस्थिति का निमित्त है। हम सूक्ष्मता से देखें—एक वृत्ति प्रातःकाल नही जागती किन्तु वह सायकाल जागती है। जो रात को नही जागती, वह दिन मे जागती है। प्रत्येक व्यक्ति के जागरण

का अपना-अपना समय होता है। इसी आधार पर जैविक घडी के सिद्धान्त मे प्रतिपादित किया गया—कौनसा कार्य कब करना चाहिए ? यह काल का निमित्त है। आन्तरिक शोधन का भी एक समय है। मेलाटोनिन के स्राव का समय मन की चचलता को कम करने का सबसे उचित समय है। जिस समय पीनियल ग्लैण्ड काम करे, वह समय आन्तरिक परिष्कार के लिए सबसे उत्तम समय है। मेलाटोनिन बाहरी क्रियाओ को निष्क्रिय कर आन्तरिक क्रियाओ को उद्दीप्त करता है। विचार, मन, भाव और वृत्तिया—ये ही तो हिंसा को बढावा दे रही है। इन आन्तरिक समस्याओ पर हमने बहुत कम ध्यान दिया है। केवल राजनीति या समाज के क्षेत्र मे ही नही, धर्म के क्षेत्र मे भी लोग बाहरी बातो पर अधिक अटक गए है। आतरिक शोधन की ओर कम ध्यान दे रहे है। इन दोनो पर हम ध्यान देगे तो अहिंसा की बात व्यापक बनेगी।

शिक्षा के साथ जुड़े अहिंसा का प्रशिक्षण

अहिंसा के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग चल रहे है किन्तु वे हमारी दृष्टि मे व्यावहारिक नही है। वे मात्र अहिंसा की व्यावहारिक प्रयोगभूमिया है। एक होता है उपाय और एक होती है प्रयोग-भूमि। सबसे पहली प्रयोगभूमि है—अपना परिवार। आदमी का पारिवारिक जीवन कैसा है ? पारिवारिक वातावरण मे यदि अहिंसा है तो एक भूमिका उसकी सफल हो गई। दूसरी प्रयोगभूमि है समाज। अहिंसा प्रशिक्षण के जो उपाय है, उनसे चित्त का शोधन होता है। प्रयोगभूमि के लिए प्रशिक्षण भी चले, आन्तरिक शोधन की प्रक्रिया भी चले। इन सबको मिलाकर एक समन्वित कार्यक्रम बने तो अहिंसा के प्रशिक्षण को एक व्यापक दिशा दी जा सकती है, उस क्रम को आगे बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए प्रमुख आधार-भूमि है—शिक्षा। जब तक शिक्षा के साथ अहिंसा के प्रशिक्षण की बात नही जुड़ेगी तब तक इसका व्यापक स्वरूप सामने नही आ पाएगा।

१८. अहिंसा के प्रशिक्षण की आधारभूमि

क्या अहिंसा का प्रशिक्षण सम्भव है ? यह प्रश्न अस्वाभाविक नही है, अप्रासंगिक भी नही है। अहिंसा परिणाम है, निष्पत्ति है। प्रवृत्ति का प्रशिक्षण हो सकता है, परिणाम का प्रशिक्षण नही हो सकता। यह तर्क हिंसा के लिए भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमे सचाई है। हिंसा भी एक परिणाम है। प्रवृत्ति को मिटाया जा सकता है। उसका रूपातरण किया जा सकता है। परिणाम को न मिटाया जा सकता है और न ही उसका रूपातरण किया जा सकता है।

हिंसा : उद्भव-स्रोत

मनुष्य मे एक मौलिक मनोवृत्ति है, वह है अधिकार की भावना, परिग्रह अथवा संग्रह की मनोवृत्ति। यह हिंसा का उद्भव-स्रोत है। परिग्रह की मनोवृत्ति का रूपान्तरण हो जाना ही अहिंसा का उपादान है। अपरिग्रह की चेतना को जगाने के उपक्रम का नाम है अहिंसा का प्रशिक्षण और अहिंसा के प्रशिक्षण का अर्थ है अपरिग्रह की चेतना को जगाने का प्रयत्न।

परिग्रह और हिंसा

व्यक्तिगत स्वामित्व, सामूहिक स्वामित्व, राज्य का स्वामित्व, सहकारिता, केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था—इन शब्दो की मीमासा किए बिना हम अहिंसा के प्रशिक्षण की बात सोच नही सकते। व्यक्तिगत स्वामित्व के प्रति बहुत आकर्षण है इसीलिए आर्थिक विकास के क्षेत्र मे वह सर्वोत्तम प्रमाणित हुआ है। सामूहिक स्वामित्व और राज्य का स्वामित्व—दोनो आर्थिक विकास की दौड मे पिछड गये है। यह इस दशक मे घटित यूरोप और एशिया की घटनाओ से प्रमाणित हुआ है। सहकारिता की स्थिति भी लगभग यही है। इनका कारण स्पष्ट है- व्यक्तिगत स्वामित्व मे अधिकार की भावना प्रबल होती है। सामूहिक स्वामित्व, राज्यगत स्वामित्व और सहकारिता मे वह दुर्बल बन

जाती है। इसका निष्कर्ष यह है कि परिग्रह और हिंसा– दोनो मे गठबधन है। जहा अधिकार की भावना है वहा अर्थ-सग्रह के प्रति अधिक आकर्षण है। जहा अर्थ-सग्रह के प्रति अधिक आकर्षण है वहा हिंसा के प्रति अधिक आकर्षण है।

अहिंसा प्रशिक्षण : प्रथम बिन्दु

अहिंसा का प्रशिक्षण कहा से प्रारम्भ करें? इस प्रश्न का उत्तर उक्त समस्या का सहज समाधान है। अहिंसा का प्रारभ बिन्दु है—अभय। 'भय मत करो' इसे हजार बार पढने वाला व्यक्ति भी भयमुक्त नही होगा यदि उसका शरीर के प्रति मोह है, धन और पदार्थ के प्रति मूर्च्छा है। भय का कारक-तत्त्व भीतर रहे और बाहर से अभय का पाठ पढें तो लक्ष्य पूर्ण नही होता। भय के सवेग का परिष्कार कैसे हो? भय के उद्दीपन से कैसे बचा जाये? इन दोनो का सम्यक् बोध और प्रयोग ही अभय का प्रशिक्षण हो सकता है। इस अवस्था मे ही अभय अहिंसा के प्रशिक्षण का प्रथम बिन्दु बन सकता है।

अहिंसा का बीज

अधिकार की भावना, सग्रह और भय—ये सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। इनसे मुक्ति पाने की बात सहज सभव नही है। इनका परिष्कार करना सभव है। उस परिष्कार मे ही छिपा रहता है अहिंसा का बीज। परिष्कार के साधनो की खोज एक जटिल प्रश्न है। चूल्हे पर पड़ा हुआ पानी गर्म हो जाता है। नीचे उतरा और फिर ठडा हो जाता है। परिष्कार की ज्योति प्रज्वलित रहे, वह बुझे नही। यह कार्य सरल नही है, साथ-साथ विश्वास करना होगा, यह असंभव भी नही है।

पहला साधन-सूत्र

हिंसा उपजती है भावतत्र मे। फिर वह विचार मे उतरती है और फिर आचरण मे। अहिंसा के प्रशिक्षण का पहला साधन-सूत्र है भाव-विशुद्धि। विधायक भाव हो, निषेधात्मक भाव न हो। इसके लिए शरीर और मन को प्रशिक्षित करना आवश्यक है।

शारीरिक प्रशिक्षण के सूत्र

शारीरिक प्रशिक्षण के सूत्र हैं—आसन और प्राणायाम।

पद्मासन, शशांकासन, योगमुद्रा, वज्रासन सर्वांगासन, मत्स्यासन, गोदोहिकासन आदि आसन नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र को प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा हिंसा के शारीरिक उत्पादक तत्त्व क्षीण होते हैं। अनुलोम-विलोम, चन्द्रभेदी, नाडी-शोधन, उज्जाई और शीतली आदि प्राणायाम शरीर मे उपस्थित हिंसा के बीजाणुओ का विरेचन करते हैं।

मानसिक प्रशिक्षण का सूत्र

मानसिक प्रशिक्षण का सूत्र है– ध्यान। कायोत्सर्ग, दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा आदि ध्यान के प्रयोग मानसिक एकाग्रता के विकास मे सहयोगी बनते हैं। चचलता जितनी कम उतनी ही हिंसा कम। चचलता जितनी अधिक उतनी ही हिंसा अधिक।

भावात्मक प्रशिक्षण के सूत्र

शारीरिक और मानसिक प्रशिक्षण से अधिक आवश्यक है भावात्मक प्रशिक्षण। उसके साधन-सूत्र हैं—चैतन्य केन्द्र का ध्यान और आभामण्डलीय लेश्या ध्यान।

अनुप्रेक्षा के प्रयोग शारीरिक, मानसिक और भावात्मक—तीनो प्रशिक्षण पदो के लिए उपयोगी हैं।

आधारभूमि प्रयोगभूमि

यह अहिंसा के प्रशिक्षण की व्यक्तिगत पद्धति है। वास्तव में अहिंसा का प्रशिक्षण व्यक्ति के स्तर पर ही होता है। समाज के स्तर पर उसका प्रयोग होता है। यह कहने मे कोई कठिनाई नही होगी कि अहिंसा के प्रशिक्षण की आधारभूमि है व्यक्ति और प्रयोगभूमि है समाज। हिंसा के लिए भी यही कहा जा सकता है- हिंसा की आधारभूमि है व्यक्ति और प्रयोगभूमि है समाज। अहिंसक समाज रचना का महत्त्वपूर्ण घटक है—व्यक्ति-रचना। इसलिए अहिंसक व्यक्ति-रचना प्रशिक्षण का पहला चरण होगा।

पारिवारिक जीवन में अहिंसा

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध और व्यवहार का तात्पर्य है समाज। मानवीय सम्बन्ध और निश्छल व्यवहार का प्रशिक्षण सामाजिक स्तर पर अहिंसा का प्रशिक्षण है। इसकी पहली प्रयोगभूमि है परिवार। हिंसा को युद्ध और आतंकवाद तक सीमित

करना हमे इष्ट नही है। युद्ध कभी-कभी और किसी-किसी भू-भाग मे होने वाली घटना है। पारिवारिक जीवन मे हिंसा की घटनाए प्रतिदिन या बहुत बार होती रहती है। वे मानसिक शाति मे बाधा डालती हैं, व्यापक हिंसा की पृष्ठभूमि तैयार करती है। पारिवारिक जीवन मे शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का होना अहिंसा के प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। असहिष्णुता, असयम और महत्त्वाकाक्षा - ये पारिवारिक जीवन मे अशाति का विष घोल देते है। सहिष्णुता और सयम का अभ्यास, महत्त्वाकाक्षा का परिसीमन—ये प्रयोग पारिवारिक जीवन मे होने वाली हिंसा का वातावरण बदल देते हैं।

पारिवारिक अहिंसा : अनेकांत का प्रशिक्षण

पारिवारिक अहिसा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है सामजस्य। भिन्न विचारो, भिन्न रुचियो मे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। इस कार्य मे अनेकात का प्रशिक्षण बहुत सहयोगी है। उसमे स्वतत्रता मान्य है किन्तु सापेक्षता को छोड़कर स्वतंत्रता मान्य नही है। सह-अस्तित्व मान्य है किन्तु अन्याय की प्रतिकारात्मक शक्ति को छोडकर सह-अस्तित्व मान्य नही है। समानता मान्य है किन्तु क्षमतात्मक असमानता छोडकर समानता मान्य नही है। शान्ति का आधार-स्तम्भ इतना कमजोर न हो कि भिन्नता के एक झोके से चरमरा जाए। अनेकात के प्रशिक्षण मे भिन्नता अमान्य नही है। शर्त इतनी है कि उसका एक छोर अभिन्नता होनी चाहिए। अभिन्नता और भिन्नता के सगम की चेतना को जगाना अहिंसक समाज-रचना की दिशा मे एक नया कदम होगा।

समाज मे हिंसा के आधार

सामाजिक जीवन मे हिंसा के मजबूत आधार बने हुए हैं। उन्हे बहुत लम्बे समय से मान्यता मिली हुई है। जातिवाद, रंगभेद, गरीबी, क्षेत्रवाद—इन पूर्वाग्रहो से ग्रस्त समाज समय-समय पर हिसा की आग मे ईंधन डालता रहा है।

जातिवाद और रगभेद के सर्पदश से छुटकारा पाने के लिए मानवीय एकता का प्रशिक्षण अत्यन्त अपेक्षित है।

गरीबी की समस्या कुछ जटिल है। जटिलता का एक पहलू है—उपभोग्य सामग्री कम है, उपभोक्ता अधिक है। सविभाग या

बांट-बांट कर खाने की मनोवृत्ति का अभाव है। व्यक्तिगत सुविधा और संग्रह की भावना प्रबल है। इस समस्या को सुलझाने के लिए संविभाग का प्रशिक्षण बहुत आवश्यक है।

प्रश्न विश्व की मौलिक एकता का

राष्ट्र की भौगोलिक इकाई की उपयोगिता को मान्य करते हुए भी विश्व की मौलिक एकता का मूल्य कम नहीं होना चाहिए। अहं और महत्त्वाकांक्षा का टकराव विश्व को एकसूत्र में बंधने से रोकता है। मनुष्य की चेतना इतनी विकसित भी नहीं है कि वह सबके साथ न्याय और संतुलित व्यवहार कर सके। यह स्थिति भी भौगोलिक और प्रादेशिक सीमाओं के अस्तित्व को बनाये रखने में निमित्त बन रही है। अहिंसक समाज की रचना के लिये भौगोलिक सीमाओं की समाप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है। उसकी अनिवार्य शर्त यह है कि भौगोलिक सीमाओं के अस्तित्व के साथ मानवीय एकता का धागा टूटे नहीं।

अहिंसा का प्रशिक्षण : आधारभूत तत्त्व

अहिंसा के प्रशिक्षण का आधारभूत तत्त्व है—हृदय-परिवर्तन अथवा मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। हृदय-परिवर्तन के लिए निम्न निर्दिष्ट सिद्धांत-सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक होगा

हिंसा के हेतु	परिणाम
१. लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
२. भय	शस्त्र-निर्माण और शस्त्र का प्रयोग।
३. वैर-विरोध	प्रतिशोध की मनोवृत्ति।
४ क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन।
५ अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छुआछूत, रंगभेद-जनित विद्वेष।
६ क्रूरता	शोषण, हत्या।
७ असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा।
८ निरपेक्ष चिन्तन	आग्रहपूर्ण मनोवृत्ति, दूसरों के विचारों को मूल्य न देने की मनोवृत्ति।
९ निरपेक्ष व्यवहार	सामुदायिक जीवन में पारस्परिक असहयोग की मनोवृत्ति।

ये संवेग व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय-परिवर्तन का

अर्थ है—इन सवेगो का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नये सस्कार-वीजो का वपन करना।

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के सूत्र

१. लोभ का अनुदय	शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण।
२. भय का अनुदय	अभय का प्रशिक्षण। शस्त्र-निर्माण और शस्त्र का व्यवसाय न करने की सकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण।
३. वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री का प्रशिक्षण। प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण।
४. क्रोध का अनुदय	क्षमा का प्रशिक्षण।
५. अहकार का अनुदय	विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध का प्रशिक्षण, अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण।
६. क्रूरता का अनुदय	करुणा का प्रशिक्षण।
७. असहिष्णुता का अनुदय	साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रशिक्षण, भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण।
८. निरपेक्ष चिन्तन का अभाव	सापेक्ष चिन्तन का प्रशिक्षण।
९. निरपेक्ष व्यवहार का अभाव	सापेक्ष व्यवहार का प्रशिक्षण।
१०. निषेधात्मक भाव का अभाव	विधायक भाव का प्रशिक्षण।

अनावश्यक हिंसा का वर्जन

अहिंसा के प्रशिक्षण का एक सूत्र होगा—अनावश्यक हिंसा के वर्जन की चेतना को जगाना। पानी का अपव्यय, खनिज पदार्थो का अतिरिक्त दोहन, निरपराध प्राणियो और मनुष्यो की हत्या, यह अनावश्यक हिंसा है। इस हिंसा ने व्यक्ति को क्रूर बनाया है। इससे प्रकृति का सतुलन बिगड़ा है।

शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा

शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा मे भी आन्तरिक सम्बन्ध

है। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में हिंसा का भाव उपजता है। आत्महत्या का एक हेतु है रक्त में शर्करा की कमी होना। यकृत (लीवर) और तिल्ली (स्प्लीन) की विकृति हिंसा के भाव को जन्म देती है। हिंसा और अहिंसा से सम्बन्ध रखने वाले आहार-शास्त्र और स्वास्थ्य-शास्त्र का प्रशिक्षण अहिंसा के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

आर्थिक स्वास्थ्य और अहिंसा

आर्थिक स्वास्थ्य के लिए इन सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है—

१. विसर्जन की मनोवृत्ति का प्रशिक्षण।
२. असग्रह का प्रशिक्षण।
३. विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रशिक्षण।
४. अर्थशास्त्र और विश्व शाति।
५. अर्थशास्त्र और स्वस्थ समाज।
६ अर्थार्जन मे प्रामाणिकता का प्रशिक्षण।
७ संविभाग की मनोवृत्ति का प्रशिक्षण।
८. उपभोग की असीम लालसा के नियमन एव उपभोग के सीमाकरण का प्रशिक्षण।

अहिंसक समाज अथवा स्वस्थ समाज की रचना के लिए शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आर्थिक स्वास्थ्य- सभी का योग जरूरी है। अहिंसा का प्रशिक्षण इन सब पर आधारित है।

अहिंसा प्रशिक्षण आधार और प्रयोगभूमि

अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति का मौलिक आधार है अहिंसा-निष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण। उसकी प्रयोगभूमिया चार है—

१ पारिवारिक जीवन।
२. सामाजिक जीवन।
३. राष्ट्रीय जीवन।
४ अन्तर्राष्ट्रीय जीवन।

प्रत्येक मनुष्य मानसिक और क्षेत्रीय सीमाओं में विभक्त है। अहिंसा के लिए अविभक्त या अखण्ड व्यक्तित्व की अपेक्षा है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण को बहु-आयामी करना होगा।

व्यक्ति को छोडकर केवल अहिंसक समाज रचना की वात सोचना एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। अहिंसक समाज रचना की बात को छोड़कर केवल व्यक्ति को अहिंसक बनाने की बात सोचना भी भ्रम से परे नही है। व्यक्ति का निर्माण समाज-सापेक्ष और समाज का निर्माण व्यक्ति-सापेक्ष होता है। इन दोनो सचाइयो को ध्यान मे रखकर ही अहिंसा के प्रशिक्षण की बात को आगे बढाया जा सकता है।

१९. अहिंसा प्रशिक्षण और जीवन-मूल्य

मूल्यो की समस्या एक जागतिक समस्या है। मूल्यो का ह्रास हो रहा है। प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति इस चिन्ता से व्याकुल है। उनकी प्रतिष्ठा हो, यह सबकी आकाक्षा और अपेक्षा है। मूल्यो का ह्रास क्यो हो रहा है, यह अन्वेषण का विषय है। वे पुनः प्रतिष्ठित कैसे हो, यह हमारे कर्त्तव्य का विषय है। असीम आर्थिक महत्त्वाकाक्षा और सुख-सुविधावादी दृष्टिकोण ने मूल्यो का ह्रास किया है। येन-केन-प्रकारेण साधन जुटाने की मनोवृत्ति और मूल्यो की प्रतिष्ठा दोनो एक साथ नही चल सकते। साधनशुद्धि का विचार जितना क्षीण होता है, मूल्यो का स्तर उतना ही नीचे आ जाता है। नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य—दोनो साधन-शुद्धि के साथ अनिवार्य रूप से जुडे हुये हैं। इन दोनो मूल्यो के बिना मानवीय मूल्यो की स्पष्ट व्याख्या ही नही की जा सकती।

सम्यग दर्शन

अपरिग्रह और अहिंसा आध्यात्मिक मूल्य हैं। प्रामाणिकता अथवा ईमानदारी नैतिक मूल्य हैं। इनकी प्रतिष्ठा साधन-शुद्धि-सापेक्ष दृष्टिकोण होने पर ही की जा सकती है। इस अर्थ मे कहा जा सकता है अनेकात अथवा सापेक्ष दृष्टिकोण मूल्यो का मूल्य है। वह सम्यग् दर्शन है। उसके बिना सम्यग् आचार की कल्पना नही की जा सकती। अहिंसा के प्रशिक्षण की आधारभूमि सम्यग्-दर्शन है। दृष्टिकोण को बदले बिना अहिंसा के विकास का प्रयत्न वैसे ही है, जैसे कोई आदमी बीज बोये बिना फसल खड़ी करना चाहता है। क्या हमारा दृष्टिकोण धन और धन-सग्रह के प्रति यथार्थवादी है? क्या हमारा दृष्टिकोण वस्तु और वस्तु-भोग के प्रति यथार्थवादी है? यदि है, तो अहिंसा प्रशिक्षण से अहिंसा के बीज की बुआई हो जायेगी।

आकर्षण का कारण

वर्तमान विश्व एकागीदृष्टिकोण की समस्या मे उलझा हुआ

है। आर्थिक और भौतिक विकास की एकांगी अवधारणा ने हिंसा के आचरण को बढावा दिया है। उस दृष्टिकोण को बदले बिना अहिंसा का आचरण बढे, इसकी सभावना नही की जा सकती। इन दशको मे अहिंसा के प्रति जो आकर्षण बढ़ा है, वह हिंसा से उत्पन्न समस्या के कारण बढा है। हत्या, आतक, सहारक शस्त्रो का निर्माण, हिंसक सघर्ष और युद्ध—ये हिंसक समस्याएं समाज की शांति को भग करती है। सचमुच शांति भंग हो रही है, इसलिये अहिंसा के प्रति आकर्षण बढ़ा है। सबको लग रहा है—वर्तमान की अशाति को मिटाने का सबसे सुन्दर समाधान अहिंसा है।

अवधारणा बदले

अहिंसा हिंसा से उत्पन्न समस्याओ का समाधान है, इसमे कोई सदेह नही है पर अनेकात दृष्टिकोण का विकास हुए बिना वह समाधान नही बनती। इस सचाई को हम कैसे झुठलाएगे कि आज के मनुष्य का दृष्टिकोण जितना पदार्थ-सापेक्ष है, उतना मनुष्य-सापेक्ष अथवा प्राणी-सापेक्ष नही है। वह पदार्थ के लिये मनुष्य के प्रति क्रूर व्यवहार कर सकता है, प्राणी के प्रति निर्मम हो सकता है। इस स्थिति मे अहिंसा का मूल्य कैसे प्रतिष्ठित किया जाये ? जिस अवधारणा ने हिंसा को बढावा दिया है, उस अवधारणा को बदला जा सकता है ? हमारा मनोबल विकसित हो, सकल्प बल प्रकृष्ट हो तो अवश्य बदला जा सकता है। उसे बदलने के लिये ही अहिंसा का प्रशिक्षण आवश्यक है।

प्रशिक्षण का उद्देश्य

अहिंसा के प्रशिक्षण का प्रारम्भ बिन्दु है हृदय-परिवर्तन अथवा मस्तिष्कीय परिवर्तन। यह परिवर्तन हिंसा के प्रति नही, पदार्थ के प्रति होगा। हमारा निश्चित मत है—अपरिग्रह की समस्या को छोडकर हम हिंसा की समस्या पर विचार नही कर सकते। आग्रहवश विचार करें भी तो उसकी सार्थकता नही होगी। अहिंसा प्रशिक्षण का उद्देश्य है—समता के मूल्य का विकास। उसके लिये अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकात—यह त्रिकोणात्मक मूल्य है। इसके द्वारा ही समता के मूल्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

यह अहिंसा प्रशिक्षण का हमारा विनम्र प्रयत्न एक नई दिशा

की संयोजना मे सफल हो। हम सब इस सकल्प को शक्तिशाली वनायें और मंगल कामना करें—अहिंसा के मूल्य की प्रतिष्ठा करने के लिये हमारे चरण आगे वढें।

२०. अहिंसा का प्राणतत्त्व

अहिंसा का प्राणतत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यदि मुझे देना हो तो मेरा उत्तर होगा—हृदय-परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन के विना अहिंसा की कल्पना भी नही की जा सकती। इसका पर्याय-वाची शब्द हो सकता है भावात्मक परिवर्तन। हृदय हमारे शरीर का वह क्षेत्र है, जहा भाव जन्म लेते हैं और वे शरीर, वाणी एव मन को प्रभावित करते है। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो हैं। एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क मे। प्रेक्षाध्यान की पद्धति के अनुसार मस्तिष्कीय हृदय की पहचान अवचेतक (हाइपोथेलेमस) से की गई है। वह भाव-धारा का उद्गम स्रोत है। वहा भाव जन्म लेते हैं और अभिव्यक्त होते हैं। शरीर-विज्ञान के अनुसार अन्त.-स्रावी ग्रंथियां मनुष्य के व्यवहारो और आचरणो को प्रभावित करती हैं। उन ग्रथियो में मुख्य ग्रथि है पीयूष ग्रथि। उसका नियामक है अवचेतक (हाइपोथेलेमस)।

हिंसा की उपज के संदर्भ

हिंसा की उपज के संदर्भ अनेक हैं—

१. असंतुलित समाज व्यवस्था,
२. असतुलित राजनैतिक व्यवस्था,
३. शस्त्रीकरण की समस्या,
४. जातीय और रंगभेद की समस्या,
५. सांप्रदायिक समस्या,
६. मानवीय सवधो मे असतुलन,
७. आर्थिक स्पर्धा और अभाव,
८ मानसिक तनाव,
९. वैचारिक मतभेद,
१०. भावात्मक असतुलन,
११. व्यक्तिगत रासायनिक असंतुलन।

वस्तु-जगत् : अन्तर्जगत्

इनमें प्रथम सात संदर्भ वस्तु-जगत् (आब्जेक्ट) से सबंध

रखते हैं। अतिम चार सदर्भ अंतर्जगत् (सब्जेक्ट) से सवध रखते हैं। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रणाली पर विचार करते समय इन दोनो सदर्भों पर ध्यान देना आवश्यक है। किसी एक ही तत्त्व से हिंसा की समस्त समस्याओ का समाधान हो जाये, इसमे हमारा विश्वा स नही है। सव रोगो की एक दवा वाली कहावत हमारी दृष्टि मे वहुत सार्थक नही है। वस्तु-जगत् से सवध रखने वाली हिंसा को कम करने और अहिंसा को प्रतिष्ठित करने के लिये गणाधिपति श्री तुलसी ने अणुव्रत आदोलन का प्रवर्तन किया। उसके आधार पर प्रशिक्षण के सूत्र भी खोजे गये है।

हिंसा का संदर्भ	अहिंसा प्रशिक्षण का सूत्र
१. असतुलित समाज व्यवस्था	अहिंसक जीवन शैली का प्रशिक्षण
२. असतुलित राजनैतिक व्यवस्था	लोकतत्रीय जीवन-शैली का प्रशिक्षण
३. शस्त्रीकरण की समस्या	मानवीय अस्तित्व की सुरक्षा का प्रशिक्षण
४. जातीय और रगभेद की समस्या	मानवीय एकता का प्रशिक्षण
५ साप्रदायिक समस्या	धर्म या सत्य की मौलिक एकता का प्रशिक्षण
६ मानवीय सवधो का असतुलन	समता और आत्मतुला के सिद्धात का प्रशिक्षण
७ आर्थिक स्पर्धा और अभाव	व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा तथा व्यक्तिगत उपभोग की सीमा का प्रशिक्षण

अतर्जगत् से सवंध रखने वाली हिंसा को कम करने के लिये अनेकात का प्रशिक्षण और प्रेक्षाध्यान के प्रयोग उपयोगी है।

८. मानसिक तनाव	कायोत्सर्ग और श्वासप्रेक्षा का प्रशिक्षण
९. वैचारिक मतभेद	अनेकांत का प्रशिक्षण
१०. भावात्मक असतुलन	चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान का प्रशिक्षण

११. व्यक्तिगत रासायनिक असतुलन	प्रेक्षाध्यान के पाचों चरणो का प्रशिक्षण ।

व्यक्ति और समाज

वर्तमान चिंतन की अभिमुखता समाज की ओर अधिक है। व्यक्ति गौण है। समाज प्रमुख है। समाज मे परिवर्तन, समाज का सुधार, समाज का विकास—चिंतन के ये प्रमुख बिन्दु हैं। व्यवस्था और कानून को सामाजिक बनाया जा सकता है। उनका सबध वस्तु और दडशक्ति से है। इसलिए उन्हे सब पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। अहिंसा का संबंध अतर्जगत् और हृदय-परिवर्तन से है इसलिए उसे सब पर समान रूप से लागू नही किया जा सकता, समाजव्यापी नही बनाया जा सकता। अहिंसा दडशक्ति का स्थान नही ले सकती। उसके द्वारा समाज को शासित नही किया जा सकता। उक्त विचार अहिंसा की दुर्बलता और हिंसा के समर्थन के लिए पर्याप्त शक्तिशाली है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि समाज को अहिंसा की अपेक्षा अच्छी व्यवस्था की जरूरत है।

इस निष्कर्ष मे जो सचाई है, उसे मैं उलटने का प्रयत्न नही कर रहा हू किन्तु सचाई का दूसरा पहलू, जिसकी हमेशा उपेक्षा की जाती है, उसे प्रस्तुत करना चाहता हू। व्यवस्था के बारे मे जितना ध्यान दिया गया, उतना ध्यान व्यवस्था के सचालन करने वाले के बारे मे नही दिया गया। व्यवस्था समाज के लिये होती है। उसे सचालित करने वाला व्यक्ति होता है। व्यवस्था बहुत अच्छी है किन्तु यदि उसे सचालित करने वाला व्यक्ति अच्छा नही है तो क्या अच्छी व्यवस्था अच्छा परिणाम लाएगी ? व्यवस्था को सचालित करने वाला व्यक्ति अच्छा है और व्यवस्था अच्छी नही है तो भी समस्या सुलझ नही पाएगी। अनेकान्त या समग्रता का दृष्टिकोण यह है— अच्छी व्यवस्था और उसे सचालित करने वाला अच्छा व्यक्ति—दोनो का योग। अहिंसा के प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य है- अच्छे व्यक्ति का निर्माण अथवा अहिंसानिष्ठ व्यक्ति का निर्माण।

व्यक्ति गौण नहीं है

व्यक्ति को अहिंसा से प्रशिक्षित किया जा सकता है, समाज

और राष्ट्र को नही । इस अवधारणा को सापेक्षदृष्टि से ही स्वीकार किया जा सकता है । व्यक्ति और समाज को विभक्त नही किया जा सकता । व्यक्ति समाज से प्रभावित होता है और समाज व्यक्ति से प्रभावित होता है । दोनो मे अन्योन्याश्रय सबध है । व्यक्ति का अतर्जगत् उसकी वैयक्तिकता है, उसका विस्तार है समाज । सामाजिक परिवर्तन या क्राति चाहे राजनैतिक हो या आध्यात्मिक, हम व्यक्ति को गौण नही कर सकते । प्रेक्षाध्यान को भले ही हम सामाजिक अहिंसा के साथ सीधा न जोड़े किन्तु परोक्षत. सामाजिक अहिंसा से उसका सबध स्वाभाविक है ।

व्यक्तित्व रूपांतरण का मौलिक रूप

व्यक्तित्व का रूपान्तरण सरल कार्य नही है । हर व्यक्ति मे विधायक और निषेधात्मक—दोनो भावो के स्रोत विद्यमान रहते है । निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते है और विधायक भाव अहिंसा को । सामाजिक वातावरण निषेधात्मक भावो को अधिक उभारता है, इसलिए जाने-अनजाने मे हिंसा की समस्या जटिल होती रहती है । आज इसकी जटिलता शिखर पर है । प्रेक्षाध्यान निषेधक भावो से अप्रभावित रहने का प्रयोग है । यदि हम निषेधात्मक भाव के स्रोतो के साथ अपना सपर्क स्थापित कर सकें तो निषेधात्मक भावो से अप्रभावित रहना हमारे लिए सरल हो सकता है । चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का आशय है—कषाय क्षेत्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना । व्यक्तित्व या चेतना के रूपान्तरण का यह मौलिक रूप है ।

अहिंसा का प्रशिक्षण अनुप्रेक्षा के प्रयोग

व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिये अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे है । इस प्रयोग मे मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते है, साथ-साथ रगो का ध्यान भी किया जाता है । ध्वनि और रग—ये दोनो अचेतन या अवचेतन मन को प्रभावित करते है । इनसे पुराने सस्कारो और अर्जित आदतो का क्षय हो जाता है, नए सस्कारो और नई आदतो के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है । नौ चरणो मे सम्पन्न होने वाला यह प्रयोग सकल्पशक्ति, आत्मविश्वास और आत्मनिरीक्षण की क्षमता को बढाता है । अहिंसा के विकास के लिए पाच अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास

अनिवार्य है—

१ अभय की अनुप्रेक्षा
२. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा
३. करुणा की अनुप्रेक्षा
४ मैत्री की अनुप्रेक्षा
५ स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा ।

शिक्षा और अहिंसा

अहिंसा के प्रशिक्षण को व्यापक बनाने के लिये उसे शिक्षा के साथ जोडना आवश्यक है। सामाजिक स्वास्थ्य, वैयक्तिक स्वास्थ्य और मानसिक शाति के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण सर्वाधिक आवश्यक है । शिक्षा मे उसकी इतनी उपेक्षा क्यो की गई, इसका उत्तर मुझे नही मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शस्त्रीकरण ने मानव समाज को इस सचाई की ओर दृष्टिपात करने के लिए विवश किया है। इस विवशता मे जो स्व-वशता निकली है, वह सुनहले भविष्य का सकेत है। १९ नवम्बर, १९९० मे जो अहिंसा का अभिलेख लिया गया, वह इस युग के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। नाटो तथा वारसा सधि देशो के चौंतीस राष्ट्राध्यक्षो ने युगान्तरकारी नि.शस्त्रीकरण सधि पर हस्ताक्षर कर शीतयुद्ध को अंतिम विदाई दे दी। शीतयुद्ध का वातावरण नई साझेदारी और आपसी मैत्री मे बदल गया । इसके साथ मध्यम दूरी के लघु प्रक्षेपास्त्रो के परिसीमन की सधि कर सोवियत राष्ट्रपति गोर्वाच्योव और अमेरिकी राष्ट्रपति बुश ने नया अध्याय खोला था। निष्कर्ष साफ है कि शीतयुद्ध, भय, तनाव और शस्त्रीकरण के वातावरण मे विश्व की व्यवस्था सम्यक् प्रकार से चल नही सकती। आखिर हिंसा से अहिंसा की ओर प्रस्थान करना ही होता है । यदि अहिंसा की शिक्षा स्कूली शिक्षा के साथ हो तो नए नेतृत्व की सफलता के लिए नए क्षितिज हमारे सामने उपस्थित हो सकते है। विद्यार्थी को प्रेक्षाध्यान के प्रयोग जीवन-विज्ञान के नाम से करवाए जाते है। उससे नैतिक शिक्षा और अहिंसा की शिक्षा—दोनो की सपूर्ति हो जाती है।

अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग और प्रशिक्षण

विश्व के अनेक अचलो मे अहिंसक समाज की रचना की

दृष्टि से अनेक व्यावहारिक प्रयोग चलाए जा रहे हैं। उनकी सार्थकता पर कोई प्रश्नचिह्न नही लगा सकता। ये प्रयोग समाज को व्यावहारिक प्रशिक्षण देते हैं। यह स्वीकार करने मे भी मुझे कोई कठिनाई नही है। फिर भी एक बात शेष रह जाती है, वह है – अहिंसा के क्षेत्र मे किये जाने वाले प्रयोग कितने चिरजीवी और कितने सफल होते हैं, यह अपने आप मे एक समस्या है। इस समस्या का अहिंसा के क्षेत्र मे काम करने वाले लोगो ने अनुभव किया होगा। प्रेक्षाध्यान अहिंसा का वस्तुनिष्ठ प्रयोग नही है, वह केवल आतरिक चेतना के रूपान्तरण या हृदय-परिवर्तन का प्रयोग है। हमारा अभिमत है – हृदय-परिवर्तन के विना सामाजिक विषमता को दूर करने और आर्थिक असमानता को मिटाने की जो वात कही जाती है, वह क्रियान्वित नही होती। बुराई को रोकने का शक्तिशाली माध्यम है दडशक्ति का प्रयोग। बुराई की चेतना को वदलने का शक्तिशाली प्रयोग है— हृदय-परिवर्तन। अहिंसा मे आस्था रखने वाला दंडशक्ति पर भरोसा नही करता। उसका विश्वास हृदय-परिवर्तन पर होता है। इस अपेक्षा से कहा जा सकता है—प्रेक्षाध्यान सामाजिक विषमता और आर्थिक असमानता के उन्मूलन का प्रयोग है।

महान् संकल्प

आचार्य श्री तुलसी द्वारा अणुव्रत आदोलन का प्रवर्तन किया गया। उसके प्राणतत्त्व ये है—

- अनावश्यक हिंसा न हो।
- निरपराध की हिंसा न हो।
- जातीय घृणा समाप्त हो, जातिभेद और रगभेद के आधार पर हीनता और उच्चता की भावना समाप्त हो।
- साप्रदायिकता के आधार पर सघर्ष न हो।
- मादक वस्तुओ के सेवन की प्रवृत्ति मिटे।

यह वर्तमान की ज्वलत समस्याओ के समाधान की दिशा मे होने वाला महान् सकल्प है। इसके लिए आतरिक चेतना के रूपान्तरण या हृदय-परिवर्तन का प्रायोगिक उपक्रम है—प्रेक्षाध्यान।

२१. अनेकान्त और अहिंसा

हमारा जगत् द्वन्द्वात्मक अथवा भेदाभेदात्मक है। अभेद छिपा रहता है और भेद सामने है। मनुष्य मनुष्य मे अनेक प्रकार के भेद है —

१. मान्यता अथवा अवधारणा का भेद।
२ विचार का भेद।
३ रुचि का भेद।
४ स्वभाव का भेद।
५ सवेग का भेद।

मान्यता-भेद

मान्यता-भेद के आधार पर अनेक सम्प्रदाय बने है, उनके अनुयायियो की सख्या का विस्तार हुआ है। साप्रदायिक भेद होना वैचारिक स्वतत्रता का लक्षण है। मनुष्य यान्त्रिक नही है। वह चिन्तनशील प्राणी है, अपने ढग से सोचता है, सिद्धान्त का निर्धारण करता है और स्वीकार करता है।

मनुष्य चिन्तनशील होने के साथ-साथ सवेगयुक्त भी है। यदि वह केवल चिन्तनशील होता तो भेद भेद ही रहता। वह विरोध का रूप लेकर साम्प्रदायिक विद्वेष, कलह और झगडे की स्थिति का निर्माण नही करता। साप्रदायिक उत्तेजना का मूल कारण सिद्धात-भेद नही है, उसका कारण है सवेगजनित आग्रह।

विचार-भेद

प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व स्वतन्त्र है इसलिए चिन्तन का भेद होना स्वाभाविक है। यदि वह यन्त्र होता अथवा यन्त्र द्वारा सचालित होता तो एक ही प्रकार से सोचता। वह वैसा नही है। सबकी अपनी-अपनी चेतना है, इसलिए अपना-अपना चिन्तन हो, यह अस्वाभाविक नही है। यह विचार का भेद सवेग से प्रभावित होकर सघर्ष की स्थिति का निर्माण करता है।

रुचि-भेद

इन्द्रिय सवेदना सब मनुष्यो की एक जैसी नही होती। एक

ो वस्तु किसी मनुष्य के लिए सुख के सवेदन का हेतु बनती है और किसी के लिए दु:ख के सवेदन का। सवेदन की भिन्नता मे कोई संघर्ष नही है। इसमे सघर्ष की चिनगारी डालने वाला सवेग ही है।

स्वभाव-भेद

जितने मनुष्य उतने स्वभाव, नाना प्रकार की आदतें। स्वभाव-भेद के लिए उत्तरदायी है मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व की संरचना। स्वभाव-भेद के कारण जो टकराव होता है, उसके लिए उत्तरदायी है सवेग।

संवेग-भेद

मनुष्य मनुष्य मे होने वाले भेद का प्रमुख करण है सवेग, किन्तु सब मनुष्यो मे सवेग समान नही होता। उसका तारतम्य ही भेद का सृजन करता है। सवेग की तरतमता के मुख्य प्रकार तीन और अवान्तर प्रकार नौ हैं—

१ मृदु – अल्प मात्रा वाला सवेग।

२ मध्य – मध्य मात्रा वाला सवेग।

३. तीव्र—अधिक मात्रा वाला सवेग।

मृदु के तीन प्रकार हैं—मृदु, मध्यमृदु और अधिमात्र मृदु।

मध्य के तीन प्रकार है—मध्य, मध्यमध्य और अधिमात्र मध्य।

तीव्र के तीन प्रकार है—तीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्र तीव्र।

मृदु सवेग वाला व्यक्ति शातिपूर्ण सह-अस्तित्व मे विश्वास करता है। वह तोड़-फोड़, कलह आदि प्रवृत्तियो मे भाग नही लेता और आत्महत्या तथा परहत्या की कल्पना भी नही करता।

मध्य सवेग वाला व्यक्ति कलह, उपद्रव, तोड-फोट आदि मे प्रवृत्त होता है।

मध्य-मध्य सवेग वाला व्यक्ति वर्ण और जाति के आधार पर घृणा करता है, छुआछूत मे विश्वास करता है, ऊच-नीच की भेद-रेखा को विस्तार देता है।

अधिमात्र मध्य सवेग वाला व्यक्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना

अपने-अपने मौलिक गुणो के कारण अपनी विशिष्टता बनाए हुए है।

व्यवहार-पक्ष—मनुष्य की स्वतन्त्रता अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मूल्याकन किए विना समाज स्वस्थ नही रहता। सामाजिकता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल्य कम नही आकना चाहिए।

साधना-पक्ष—एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे बाधक न वने। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपने विचार को सर्वोपरि सत्य नही मानता। अपने विचार को ही सब कुछ मानने वाला दूसरे की स्वतत्रता मे हस्तक्षेप किए विना नही रहता। इस हस्तक्षेपी मनोवृत्ति को वदलने के लिए स्वतत्रता की अनुप्रेक्षा वहुत मूल्यवान् है।

सापेक्षता

दार्शनिक-पक्ष—हमारा अस्तित्व स्वतत्र और निरपेक्ष है किन्तु हमारा व्यक्तित्व सापेक्ष है। व्यक्तित्व की सीमा मे स्वतत्रता भी सापेक्ष है। इसलिए कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतत्र नही है और वह पूर्ण स्वतत्र नही है इसलिए सापेक्ष है। विकासवाद का सूत्र है—जीवन का मूल आधार है सघर्ष। अनेकात का सूत्र है—जीवन का मूल आधार है परस्परावलम्वन। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सहारे पर टिका हुआ है।

व्यवहार-पक्ष—एकागी दृष्टिकोण वाले विचारक व्यक्ति और समाज को खडित कर देते है। कोई विचारक समाज को ही सव कुछ मानता है, तो कोई विचारक व्यक्ति को ही सव कुछ मानता है। अनेकात का दृष्टिकोण सर्वांगीण है। उसके अनुसार व्यक्ति और समाज—दोनो सापेक्ष हैं। यदि समाज ही सव कुछ है तो व्यक्तिगत स्वतत्रता अर्थहीन हो जाती है और यदि व्यक्ति ही सव कुछ है, तो सापेक्षता का कोई अर्थ नही होता। स्वतत्रता की सीमा है सापेक्षता और सापेक्षता की प्रयोगभूमि है व्यक्ति एव समाज के वीच होने वाला सम्वन्ध सूत्र।

मानवीय सम्वन्धो मे जो कटुता दिखाई दे रही है, उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। सकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर सम्वन्ध-विज्ञान

को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, विचार, वृत्ति और अपने शरीर के साथ सम्बन्ध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यो के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारो के साथ आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण सम्बन्ध है, तो हिंसा अवश्य-भावी है।

साधना-पक्ष—एकागी अथवा निरपेक्ष दृष्टिकोण को बदलने के लिए अभ्यास आवश्यक है। परिवर्तन केवल जानने मात्र से नही होता। उसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास अपेक्षित है। सर्वांगीण और सापेक्ष दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए सापेक्षता की अनुप्रेक्षा अपेक्षित है।

समन्वय

दार्शनिक-पक्ष—कोई भी विचार समग्र सत्य नही होता। वह सत्याश होता है। जैसे अपने विचार को सत्य मानते हो वैसे ही दूसरे के विचार मे भी सत्य की खोज करो। अपने विचार को सत्य ही मानना और दूसरे के विचार को असत्य ही मानना एकांगी आग्रह है। यह एकागी आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य की खोज का मार्ग है अनाग्रह। अनाग्रही मनुष्य दो भिन्न विचारो मे समन्वय साध सकता है।

व्यवहार-पक्ष—आग्रही मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिये उत्तरदायी है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय द्वारा सम्मत सत्याश को स्वीकार करने के लिये तैयार नही है। आचार्य विनोबा ने लिखा 'मैं कबूल करता हू कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोडकर महावीर से बढकर किसी का असर चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है, वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह है कि सत्यग्राही बनो। आज जहा-जहा जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गाधीजी ने पेश किया था लेकिन बाबा जानता था वह कौन है? वह सत्याग्रही नही, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अश होता है इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों मे, पन्थो मे सब मानवो मे सत्य का जो अश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिये,

यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है ।'

साधना-पक्ष—रेप्टेलियम मस्तिष्क से प्रभावित व्यक्ति साम्प्रदायिक और जातीय घृणा फैलाने मे तत्पर रहता है। साधना के द्वारा उसके प्रभाव को कम किया जा सकता है। समन्वय की चेतना के विकास के लिए समन्वय की अनुप्रेक्षा बहुत उपयोगी है।

२२. लोकतंत्र और अहिंसा

लोकतन्त्र वर्तमान मानस को सर्वाधिक आकर्षित करने वाला एक शब्द है, एक प्रयोग है। व्यक्ति जिसे सबसे अधिक चाहता है, वह है स्वतन्त्रता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का प्राणतत्त्व है। अधिनायकवादी प्रणाली मे उसका हनन होता है। इसलिये वह केवल अधिनायक को प्रिय लगती है, शेष सबको अप्रिय। सबके लिये समान अवसर और सबको मत देने का अधिकार—ये लोकतन्त्र के अपने विशिष्ट मूल्य हैं। इन मूल्यों का फलित है कि लोकतंत्र अहिंसा का व्यावहारिक प्रयोग है।

अहिंसा के पाच मौलिक सूत्र हैं—

१. स्वतन्त्रता,
२. सापेक्षता,
३. समन्वय,
४. समानता,
५ सहअस्तित्व।

इनका अस्तित्व लोकतंत्र का अस्तित्व, इनकी उपेक्षा लोकतन्त्र का उन्मूलन। हिंसा की बढती प्रवृत्ति और लोकतन्त्र मे विरोधाभास है। लोकतन्त्र हो और नैतिक मूल्यो का विकास न हो, यह सम्भव नही। लोकतक हो और प्रामाणिकता तथा दायित्व-बोध न हो, यह सम्भव नही। लोकतन्त्र हो और अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति न हो, यह सम्भव नही।

लोकतंत्र की प्रक्रिया

लोकतन्त्र की गाडी चुनाव की पटरी पर चलती है। अधिनायकवादी मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने का और जनता की शक्ति की अभिव्यक्ति का शक्तिशाली माध्यम है चुनाव। चुनाव के दौरान जातिवाद का ज्वालामुखी फूटता है। वह आपसी सौहार्द को लील जाता है। साम्प्रदायिक कटुता फुफकारती है और यदा-कदा डसती भी है। वह राष्ट्रीय एकता की जड को हिला देती है। येन-केन प्रकारेण मत (वोट) पाने की मनोवृत्ति बनती जा रही है। उसमे लोकतन्त्र का प्रतिबिम्ब नही देखा जा सकता। बहुत बार यह चिन्तन प्रखर और स्वर मुखर हो जाता है—चुनाव की प्रणाली

में परिवर्तन हो, अन्यथा यह लोकतन्त्र के लिए राहु-केतु वन जाएगी।

परिवर्तन का प्रारम्भ बिंदु

परिवर्तन कहा से शुरू हो ? पहले लोकतत्र के प्रति सुसगत दृष्टिकोण का निर्माण करें अथवा चुनाव का तरीका बदलें ? लोकतत्र का घटक है लोक। उसकी चेतना सुषुप्त रहे, तब अगला कोई भी चरण सफल नही हो सकता। शासन अधिक, आत्मानुशासन कम, इसका नाम है राजतत्र। शासन कम और आत्मानुशासन अधिक, इसका नाम है—लोकतत्र। आत्मानुशासन और सयम—दोनो के वीच भेद-रेखा खीचना कठिन है। अणुव्रत का प्रमुख घोष है—'सयम ही जीवन है।' सयम के बिना आत्मानुशासन जीवन्त नही रहता और आत्मानुशासन के बिना लोकतत्र सफल नही होता। गणाधिपति तुलसी ने लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा—'कानून कम और आत्मानुशासन अधिक, यह है लोकतंत्र का स्वरूप।' लोकतंत्र के नागरिको मे आत्मानुशासन की अपेक्षित मात्रा है या नही ? इस पर चिन्तन होना आवश्यक है। यदि वह है तो लोकतंत्र विफल नही होगा। यदि नही है, तो उसकी सफलता का स्वप्न दु.स्वप्न होगा।

अपेक्षित है प्रशिक्षण

अणुव्रत आत्मानुशासन की आचार-सहिता है। उससे प्रस्फुटित होता है जीवन-दर्शन। अनावश्यक हिंसा का वर्जन, मानवीय एकता, जातिवाद का अस्वीकार तथा साप्रदायिक-वैचारिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण वनता है, तो लोकतत्र की पृष्ठभूमि अपने आप सुस्थिर और सुदृढ वन जाती है। चुनाव की प्रक्रिया को वदलने का प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। उसे वदलने के लिए अपेक्षित है प्रशिक्षण। अणुव्रत के प्रशिक्षण का अर्थ है—लोकतत्र का प्रशिक्षण। लोकतन्त्र के प्रशिक्षण का अर्थ है—अणुव्रत का प्रशिक्षण।

हिन्दुस्तान मे लोकतत्र चार दशक से चल रहा है। उसका प्रशिक्षण सभवत. अभी भी नही चल रहा है। मतदाता को मत देने का अधिकार प्राप्त है, पर जिसके संचालन के लिए वह मत देता है, उससे वह अनजान है। लोकतत्र के नागरिक को अर्हता

क्या है ? और मत लेने वाले की अर्हता क्या है ? इन दोनो का वोध नही होता तव मतो का विक्रय होता है, छीना-झपटी (वूथ केप्चरिंग) होती है, और भी वहुत कुछ होता है। लोकतन्त्र के प्रति जन-चेतना जागृत हो तो वैसा नही हो सकता।

लोकतन्त्र : द्वंद्वात्मक भूमिका

लोकतंत्र मे सत्ता के सिंहासन पर वह दल वैठता है, जिसे वहुमत मिलता है। जिसे अल्पमत मिलता है, वह प्रतिपक्ष के आसन पर वैठता है। यह एक स्वस्थ प्रणाली है। जैन न्याय का एक सिद्धान्त है – यत् सत् तत् सप्रतिपक्षं—जिसका अस्तित्व है, उसका प्रतिपक्ष है। जिसका प्रतिपक्ष नही है, उसका अस्तित्व नही है। निरंकुश शासन के वादलो को चीर कर लोकतन्त्र का सूर्य उगता है। यदि प्रतिपक्ष न हो तो निरकुश शासन के घटाटोप की सभावना फिर वन जाती है, इसलिए प्रतिपक्ष का उतना ही मूल्य है, जितना पक्ष का है। स्वस्थ पक्ष और स्वस्थ प्रतिपक्ष हो, तभी स्वस्थ लोकतन्त्र की परिकल्पना की जा सकती है। इस स्वास्थ्य का रहस्य है समन्वय। अपने विचार और अपनी नीति का आग्रह सवमे होता है, किन्तु वह इस सीमा तक न हो कि मनुष्य दूसरे के विचार मे सत्य न देख सके, दूसरे की नीति के यथार्थ को न समझ सके। समन्वय अणुव्रत की जीवन शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अणुव्रत : अतीत और भविष्य

अणुव्रत का उदय नैतिक विकास या चरित्र विकास के आन्दोलन के रूप मे हुआ। उसकी आचार-सहिता ने प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया। उसका कार्यक्षेत्र व्यापारशुद्धि, भ्रष्टाचार उन्मूलन, चुनावशुद्धि आदि मे रहा। उसका जीवन-दर्शन या जीवन-शैली के रूप मे मूल्यांकन नही किया गया। अव दिशा परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव की जा रही है। अणुव्रत का जीवन-दर्शन लोकतन्त्र का जीवन-दर्शन है। उसकी जीवन-शैली लोकतन्त्र की जीवन-शैली है। उसे केवल व्यवहार शुद्धि की सीमा मे सीमित कर नही देखा जाना चाहिए।

एक सामाजिक प्राणी के लिए हम अहिंसा की पूर्णता की वात नहीं सोच सकते। वह केवल हिंसा के सहारे चले, यह

वांछनीय नही है। मध्यम मार्ग है—हिंसा से अहिंसा की ओर प्रस्थान, अनावश्यक हिंसा का परित्याग। अणुव्रत की जीवन-शैली एक मध्यम मार्ग है। उसमे हिंसा और अहिंसा--दोनो की अति नही है।

एक सामाजिक प्राणी के लिए हम अपरिग्रह की वात नही सोच सकते। वह केवल सग्रह और परिग्रह मे आसक्त रहे, यह वांछनीय नही है। वह व्यक्तिगत स्वामित्व या व्यक्तिगत सग्रह की सीमा करे। व्यक्तिगत भोग की भी सीमा करे। अणुव्रत की जीवन-शैली मे इस सीमाकरण का वहुत मूल्य है। इसमे पदार्थ के प्रति होने वाली सघन मूर्च्छा का जाल टूटता है।

शिक्षा जीवन की ओर मुड़े

लोकतन्त्र को चिरायु वनाने के लिए दो दिशाओ मे प्रस्थान करना जरूरी है। हिंसा और परिग्रह के प्रति जनता का दृष्टिकोण वदले, ऐसा प्रशिक्षण शिक्षा के साथ चले। वर्तमान मे शिक्षा केवल व्यवसाय, शिल्प, यान्त्रिक विकास और शारीरिक-स्वास्थ्य के साथ जुडी हुई है। उसका मार्ग वदलना आवश्यक है। उसका प्रवाह केवल जीविका की ओर है, वह जीवन की ओर भी मुडे। आर्थिक स्पर्धा और सुविधावादी दृष्टिकोण ने अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। उनका उन्मूलन करना सम्भव नही है, किन्तु चेतना की उर्वरा मे यदि हिंसा और परिग्रह की सीमा के वीज वोए जाए तो एक स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत हो सकता है। लोकतंत्र को उसकी वहुत अपेक्षा है। अणुव्रत का प्रयत्न इस दिशा मे चले और वह शिक्षा-जगत् को भी अपना सहभागी वना सके तो मानवता का भविष्य उज्ज्वल होगा।

वर्तमान मे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के सामने अनेक समस्याए हैं, जैसे—मानसिक तनाव, हिंसा, आतंकवाद, नशाखोरी, असहिष्णुता आदि। अणुवत का वोध और प्रयोग उनके समाधान का एक मार्ग है। लोकतन्त्र का प्रशिक्षण केवल सिद्धातो से नही होगा, वह होगा सिद्धांतो के साथ अभ्यास और आचरण के द्वारा। यह छोटी-सी वात महत्त्वपूर्ण है, सव लोग इसका अनुभव करें।

२३. पर्यावरण-विज्ञान और अहिंसा

अहिंसा का अध्ययन बहुत प्राचीन काल से चल रहा है। हजारो-हजारो वर्षों से उसकी चर्चा और अनुशीलन हो रहा है। अहिंसा की समग्रता को जानने के लिए पहले शास्त्र पढे जाते थे। आज उसके साथ पर्यावरण-विज्ञान को पढना जरूरी है। अहिंसा का अर्थ इतना ही नही है कि किसी जीव को मत मारो। उसका अर्थ यह भी है—मारने की स्थिति भी पैदा मत करो। ऐसा वातावरण मत बनाओ, जिससे जीव मर जाए। ऐसी परिस्थितियां भी पैदा मत करो, जिससे अजीव भी अस्त-व्यस्त हो जाये। अहिंसा के साथ जितना जीव जुडा है, उतना ही अजीव जुडा है। एक व्यक्ति क्रोध मे आया और उसने पत्थर उठाकर फेंक दिया। कोई प्राणी नही मरा परन्तु वह भी हिंसा है।

निमित्त-विज्ञान

भगवान् महावीर ने प्रत्येक घटना के साथ वातावरण और निमित्त को जोडा। इसे निमित्तविज्ञान भी कहा जा सकता है। निमित्तो को नष्ट मत करो। किसी जीव को मत मारो, इस निर्देश के साथ-साथ यह भी कहा, जीव की उत्पादक शक्ति को भी नष्ट मत करो। चाहे जीव निर्जीव बन गया है फिर भी उसे नष्ट मत करो। इस बात पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुद्गल परिणाम—ये सब परिवर्तन के निमित्त बनते हैं। अहिंसा का सिद्धात केवल न मारने से ही नही जुड़ा है, निमित्तो से भी जुडा हुआ है। यह निमित्त-विज्ञान का अध्ययन ही पर्यावरण विज्ञान है।

पर्यावरण के मौलिक सूत्र

आज पर्यावरण-विज्ञान सारे विश्व को प्रभावित कर रहा है। उसका मूल सिद्धात यह है -जीव और पदार्थ एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

उसका दूसरा सूत्र है—हमारा भौतिक वातावरण जीवो पर और जीव भौतिक वातावरण पर आश्रित हैं।

उसका तीसरा सूत्र है—एक कडी का परिवर्तन शेष कडियो मे परिवर्तन ला देता है। भूमि, पानी, हवा ईन्धन—ये सब इस अखिल जगत् की कडियां हैं। एक कडी के अस्त-व्यस्त होने पर सब कडियां अस्त-व्यस्त हो जाएंगी।

उसका चौथा सूत्र है—जीव अमुक प्रकार की स्थिति मे ही बच सकते हैं। यदि वह स्थिति और वातावरण बदल जाये तो जीव समाप्त हो जाये। एक निश्चित तापमान में ही जीव जी सकता है। आज एक खतरा पैदा हो गया--ओजोन की परत टूटती जा रही है। यदि पराबैंगनी किरणे सीधी धरती पर पड़नी शुरू हो गई तो जीव का जीवित रहना मुश्किल है। तापमान से जलस्तर इतना बढ जायेगा कि बडे-बडे नगर समुद्र बन जाएगे।

उसका पांचवां सूत्र है—प्रकृति का सन्तुलन न बिगडे, कोई भी तत्त्व असतुलन की अवस्था को प्राप्त न हो जाये।

ध्रुव नियम

पर्यावरण-विज्ञान के ये पाच सिद्धात हैं। हम इन पाच सिद्धातो के सदर्भ मे अहिंसा पर चिन्तन करें। अहिंसा का भी यह सिद्धात है—अकेला कोई जी नही सकता। एक ध्रुव नियम बतलाया गया—**द्रव्यनिमित्त हि ससारिणां वीर्यमुपजायते**—हमारा सारा वीर्य/शक्ति द्रव्य के निमित्त पैदा होती है, पर्यावरण के निमित्त से पैदा होती है। यदि पर्यावरण बिगड गया तो हमारा वीर्य समाप्त हो जायेगा। जो अहिंसक इस सिद्धात को मानता है—द्रव्य के निमित्त से अस्तित्व बचता है, प्राणी बचता है—वह पर्यावरण की उपेक्षा कैसे कर सकता है? जीव पुद्गल से प्रभावित होता है और पुद्गल जीव से प्रभावित होता है। यदि एक मे परिवर्तन आता है तो दूसरा प्रभावित हो जाता है। यह परिवर्तन और प्रभाव का सिद्धात लोकस्थिति का सिद्धात है।

वर्तमान की भाषा

यह सृष्टि-सन्तुलन की बात है, इसे हम अहिंसा विज्ञान की दृष्टि से भी स्वीकार करते है। पर्यावरण-विज्ञान मे इसकी विस्तार से व्याख्या हुई है। पर्यावरण-विज्ञान का अध्ययन अहिंसा विज्ञान का अध्ययन है। यदि हम केवल प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर ही अहिंसा की व्याख्या करें तो आज का आदमी समझ नही पायेगा।

केवल पारलौकिक दृष्टि से जुडी यह व्याख्या वर्तमान मनुष्य के महज बुद्धिगम्य नही होती– हिंसा करोगे तो नरक मे जाओगे, कर्म का बन्ध होगा। यह बात आदमी जल्दी समझ लेता है—हिंसा करोगे तो पर्यावरण का सन्तुलन गड़बडा जायेगा, फिर आदमी का जीना कठिन हो जाएगा। यह भाषा समझना आसान है—दूसरो को प्रदूपित कर तुम कैसे बच पाओगे ? इस आतक को देखने वाला हिंसा से बच सकता है। आज प्रतिमान और प्रतीक बदलने की जरूरत है। सन्दर्भ वही है। सयुक्त-राष्ट्रसघ ने पर्यावरण-विज्ञान पर बहुत सगोष्ठियां आयोजित की, उनमे अहिंसा-शास्त्र की ही चर्चा थी।

पर्यावरण का प्रदूपण क्यों ?

पर्यावरण-विज्ञान का एक पहलू है—पर्यावरण का सन्तुलन। उसका दूसरा पहलू है—पर्यावरण का प्रदूपण। पर्यावरण का प्रदूषण हिंसा है। हम यह जानते हैं—पर्यावरण का सन्तुलन रहेगा तो मनुष्य भी जीयेगा, पशु-पक्षी भी जीएगे और भौतिक वातावरण भी शुद्ध रहेगा। यदि पर्यावरण प्रदूपित हुआ तो न जीव-जन्तु जी सकेंगे और न भौतिक वातावरण शुद्ध रह पायेगा। आज वैज्ञानिक चिंतित है—पर्यावरण प्रदूपित होता जा रहा है, भूमि, वायु, जल—सब प्रदूपित बनते जा रहे हैं। इसका कारण क्या है ? एक कारण है गरीबी। आजीविका की समस्या इसका एक हेतु है। आदमी जंगल काट रहा है। वह उसके लिये आजीविका का साधन है। वे लकड़ी काटते है आजीविका के लिये किन्तु उनके इस कृत्य से जगल साफ हो रहे हैं, पर्यावरण-प्रदूपण बढता जा रहा है। अमीर लोग भी प्रदूपण बढ़ा रहे हैं। हम कागज का उदाहरण लें। आज कागज का कितना प्रचलन हो गया है और उसका अपव्यय भी कितना हो रहा है। हम देखते हैं—दो-दो पंक्तिया लिखते है और पूरा पन्ना खाली छोड़ देते हैं। यह कोई फैशन हो गया है। श्री छोगमलजी चोपड़ा बहुत लिखते थे लेकिन वे पूरा पन्ना अक्षरो से भर देते। कागज का पूरा उपयोग करते। आज कहा है वह उपयोग। आज पूरे पेज मे दो चार लाइनें ही लिखी जाती हैं। परिणाम यह है- कागज के बड़े-बड़े कारखाने लग रहे हैं और उनके लिये जंगलो का कटना भी जरूरी बन गया है। यह जरूरत पर्यावरण के प्रदूपण का हेतु बन

रही है।

गभीर संकट

आज वैज्ञानिको के सामने समस्या है– एटमी कचरे को कहा डाले ? यदि समुद्र मे डाला जाता है तो समुद्री जीव मर जाए। समुद्र मे जहा यह एटमी कचरा डाला गया है वहा जीव मर भी रहे है। कही अवकाश नही है। यह समस्या मानव के लिये गभीर सकट वन गई है। प्रदूषण को पैदा करने वाले ऐसे अनेक कारण आज विश्व मानस को आदोलित कर रहे हैं किन्तु इन सवके पीछे जो मूल कारण है, वह है भावात्मक/मानसिक प्रदूषण। प्रदूषण का खतरा मनुष्य के अपने असयम के कारण उत्पन्न हुआ है। आज प्रत्येक वात मे असयम है। जव हम महात्मा गाधी की वातो को पढते हैं, रूपचन्दजी सेठिया के जीवन को देखते हैं तब यह चिन्तन उभर आता है—वे लोग छोटी-सी वात पर भी कितना ध्यान देते थे। दातुन करने के लिए नीम की छोटी टहनी तोड़नी थी। विदेशी महिला वडी टहनी तोड़कर ले आई। महात्मा गाधी ने उसे डाटते हुए कहा—जो काम छोटी टहनी से हो सकता है उसके लिए वडी टहनी क्यो तोडी ? यह अपव्यय है।

उनका क्या होगा ?

रूपचन्दजी सेठिया वावन तोला पानी से स्नान करते थे। उन्होने स्नान मे उससे अधिक पानी का प्रयोग नही किया। और आज क्या हो रहा है ? आज व्यक्ति नल के नीचे बैठ जाता है और स्नान करता चला जाता है। कितना पानी व्यर्थ वहता है। स्नान पानी ज्यादा डालने से नही होता, घर्षण से होता है पर मनुष्य इस तथ्य को अनदेखी कर पानी का अपव्यय कर रहा है। यह भावात्मक असयम एक बीमारी है। जव तक इसका इलाज नही होगा, प्रदूषण वढ़ता ही चला जाएगा। आज आदमी मे लोभ-लालच वढ़ गया है। यह माना जा रहा है—जितने कारखाने वढेंगे उतना ही विकास होगा। ऐसा लगता है—आज इस विपय पर गम्भीरता से नही सोचा जा रहा है। कितना भूमि का दोहन हो रहा है ? कितना पदार्थ का उपभोग और निर्माण हो रहा है ? आने वाली पाचवी-सातवी पीढी की सोच आज किसी को नही है। यह कोई नही सोच रहा है– उनका क्या होगा ? उनके लिए क्या

बचेगा ?

संयम ही जीवन है

वस्तुतः यह चिन्ता का विषय है। हम इस पर गंभीरता से सोचें। हम पर्यावरण-विज्ञान की इस सचाई को समझें—पदार्थ की सीमा है, वह असीम नहीं है। उपभोक्ता ज्यादा है और पदार्थ कम। इस स्थिति मे संघर्ष की बात आयेगी। हम इस बात पर ध्यान दें पदार्थ की सीमा है तो उपभोक्ता की इच्छा की भी सीमा होनी चाहिए। हम अनावश्यक इच्छा को न बढाए। पदार्थ की सीमा, उपभोक्ता की इच्छा की सीमा और पदार्थ का संयम—इस सिद्धांत को समझ कर ही प्रदूषण की चिन्ता को मिटाया जा सकता है। इस सन्दर्भ मे अणुव्रत का घोष महत्त्वपूर्ण है—संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है। लोग पूछते हैं—संयम जीवन कैसे है ? पदार्थ जीवन हो सकता है, अन्न-पानी जीवन हो सकते हैं, संयम जीवन कैसे हो सकता है ? आज की समस्या पर विचार करें तो यह घोष बहुत सटीक प्रतीत होता है। वास्तव में संयम ही जीवन है। संयम रखेंगे तो जीवन चलेगा। यदि असंयम बढता चला गया तो एक आदमी की ही नही, पूरी सृष्टि की हिंसा का प्रसंग आ सकता है। आज आवश्यकता है—हम पर्यावरण, अहिंसा और संयम का मूल्य आंकें। यह केवल धार्मिक जगत् का ही नही, पूरी मानव जाति और प्राणी जगत् का प्रश्न है। इस पर गम्भीर चिन्तन-मन्थन, अनुशीलन और प्रयोग कर असन्तुलन और पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या को समाहित किया जा सकता है।

२४. शिक्षा और अहिंसा

स्वतंत्रता और अनुशासन—ये दोनो नैसर्गिक मूल्य है। इन मूल्यो के आधार पर ही अन्य मूल्य विकसित होते है। मूल्य का अर्थ है आचरण और व्यवहार। आचरण पर-निरपेक्ष और पर-सापेक्ष—दोनो प्रकार का होता है। व्यवहार केवल पर-सापेक्ष होता है। केवल अनुशासन की चेतना मे मूल्यो की आंतरिक चेतना प्रस्फुटित नही होती। केवल स्वतन्त्रता की चेतना मे आतरिक मूल्यो को प्रस्फुटित करने का विवेक जागृत नही होता।

मूल्य की व्याख्या

मनुष्य का व्यवहार त्रिहेतुक होता है :—

१ प्रवृत्तिहेतुक

२ निवृत्तिहेतुक

३ उपेक्षाहेतुक।

उपादेय के लिए प्रवृत्ति करना, हेय से निवृत्ति करना और उपेक्षणीय की उपेक्षा करना प्रमाण का फल है। यह प्रमाण-शास्त्र का सिद्धात है।

मूल्य की व्याख्या के लिए यह प्रमाणशास्त्रीय सिद्धांत पर्याप्त है। उपादेय मे प्रवृत्ति न करना, हेय से निवृत्त न होना और उपेक्षणीय की उपेक्षा न करना—यह व्यवहार का विपर्यय है। इस विपर्यय को मिटाने तथा सम्यक् चेतना को जागृत करने के लिए मूल्य-चेतना को जागृत करने का प्रशिक्षण आवश्यक है। यह शिक्षा का अनिवार्य अग है। जो शिक्षा मूल्य-चेतना को न जगा सके, उसे शिक्षा के पवित्र सिंहासन पर आसीन होने का अधिकार भी नही है।

चेतना के तीन स्तर

मानवीय चेतना के तीन स्तर है :—

१ पदार्थ चेतना

२ नैतिक चेतना

३. आध्यात्मिक चेतना।

इनकी तीन क्रीडाभूमिया है :—

१. पदार्थ चेतना की क्रीड़ाभूमि गुदा से नाभि तक का प्रदेश ।

२ नैतिक चेतना की क्रीडाभूमि नाभि से ऊपर कण्ठ तक का प्रदेश ।

३. आध्यात्मिक चेतना की क्रीडाभूमि ठुड्डी से सिर तक का प्रदेश ।

चेतना का स्तर वदलने पर ही नैतिक चेतना और आध्यात्मिक चेतना का विकास हो सकता है ।

लोभ, कामवासना, क्रोध, अहकार आदि कपायो अथवा कर्माशियो का सम्वन्ध नाभि या उससे निम्न केन्द्रो से है । इन केन्द्रो मे चेतना की पुनरावृत्ति स्वार्थ, आवेश, उत्तेजना, सत्ता, अधिकार, विपय-लोलुपता आदि को जन्म देती है ।

नाभि से ऊपर के केन्द्रो मे चेतना की पुनरावृत्ति प्रामाणिकता, सत्यनिष्ठा, नि स्वार्थभाव, विनम्र व्यवहार, सरलता, सन्तोप, करुणा आदि को जन्म देती है ।

कण्ठ से ऊपर के केन्द्रो मे उपस्थित चेतना आत्मानुभूति, नैसर्गिक सुख, समता, मैत्री, प्रमोद, तटस्थभाव, आत्म-निरीक्षण आदि को जन्म देती है ।

आध्यात्मिक चेतना

आध्यात्मिक चेतना का स्तर विकसित होने पर व्यक्ति मे एक विशेप प्रकार के जीवन के लक्षण अभिव्यक्त होते है, जैसे-—

१ अपनी असमर्थता को स्वीकार करने की क्षमता ।

२. अपनी गलती को स्वीकार करने की क्षमता ।

३ अह्-मम के परिष्कार की क्षमता ।

४ अपनी गलती के परिष्कार की क्षमता ।

५ आग्रह के परिष्कार की क्षमता ।

६ लक्ष्य पर एकाग्र होने की क्षमता ।

७ दूसरे की विशेपता को स्वीकार करने की क्षमता ।

८ सिद्धांत को त्यागने वाले घनिष्ट व्यक्ति को छोड़ने की क्षमता ।

मन की आवाज आत्मा की आवाज

पदार्थ चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति प्रिय-अप्रिय सवेदन से सकुल रहता है। वह सवेदन से निकली मन की आवाज को आत्मा की आवाज मानने लग जाता है। वास्तव मे मन की आवाज को आत्मा की आवाज मानना भ्राति है।

नैतिक चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति प्रिय-अप्रिय सवेदन से ऊपर उठकर अपने व्यवहार का सपादन करता है। वह आत्मा की आवाज के निकट पहुच जाता है।

आध्यात्मिक चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति आतरिक अनुभूति मे रहता है। आत्मा की आवाज का अधिकार उसी को प्राप्त होता है। वास्तव मे समता या वीतरागता की आवाज ही आत्मा की आवाज है।

शिक्षा की चतुष्पदी

आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो ने शिक्षा के सामने ही प्रश्न उपस्थित नही किए हैं किन्तु स्वय शिक्षा को ही प्रश्नचिह्न बना दिया है। जिस शिक्षा का फलित सामाजिक जीवन मे सामजस्य, आर्थिक जीवन मे करुणा और राजनैतिक जीवन मे त्याग नही होता, क्या उस शिक्षा को सार्थक माना जाए ? शिक्षा की सार्थकता की खोज मानवीय अस्तित्व की खोज है। यह किसी भी वैज्ञानिक खोज से कम महत्त्वपूर्ण नही है। शिक्षा की खोज के लिए हम शिक्षा की चतुष्पदी पर चिन्तन करे। आदर्श, उद्देश्य, पद्धति और सामग्री—ये चार शिक्षा-पद हैं।

आदर्श

शिक्षा का आदर्श है—स्थितप्रज्ञता। लाभ-अलाभ, सुख-दु.ख, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वो की स्थिति मे जिसकी प्रज्ञा समत्व की अनुभूति करने लग जाती है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। स्थितप्रज्ञता को आध्यात्मिक चेतना का जागरण, आत्मानुभूति अथवा आत्मोपलब्धि कहा जा सकता है।

उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य है—सर्वागीण व्यक्तित्व का विकास।

उसके चार अंग हैं—शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास, मानसिक विकास और भावात्मक विकास।

आदर्श की दिशा में आगे बढ़ने के लिए सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास अनिवार्य अपेक्षा है।

पद्धति

शिक्षा-पद्धति के अनेक विकल्प मिलते हैं। व्याख्या विधि, वाद-विवाद विधि, तर्क विधि, प्रश्न विधि आदि। हमारी दृष्टि में शिक्षा की पद्धति समन्वित होनी चाहिए। उसमें सिद्धांत और प्रयोग - दोनों का संतुलन अपेक्षित है। केवल सिद्धांत से ज्ञान विकसित होता है, कर्मजाशक्ति और चरित्र का विकास नहीं होता।

सामग्री

शिक्षा की सामग्री के चार महत्त्वपूर्ण अंग हैं—

१. उद्देश्य की पूर्ति करने वाली पुस्तकें।

२. उद्देश्य की दिशा में सहायता करने वाला शिक्षक।

३. उद्देश्य की पूर्ति में सहायक वातावरण।

४. उद्देश्य की पूर्ति में प्रेरक बनने वाले अभिभावक।

शिक्षा की यह चतुष्पदी अहिंसक वातावरण बनाने में सक्षम है। इसी के आधार पर अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न संजोया जा सकता है।

सामाजिक जीवन का मूल आधार

सामाजिक जीवन का मूल आधार है—शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व। वह अहिंसा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। वर्तमान की शिक्षा-प्रणाली में अहिंसा की मानसिक संरचना के तत्त्व बहुत कम हैं। अत्यल्प मात्रा प्रभावी ढंग से काम नहीं करती। इसीलिए शिक्षा की पुनर्व्यवस्था की अपेक्षा निरंतर अनुभव की जा रही है। शिक्षा-संस्थानों में भी हिंसात्मक प्रतिरोध की प्रवृत्ति बढ़ रही है। तोड़-फोड़ की घटना एक साधारण बात बन गई है। मादक वस्तुओं का विस्तार होता जा रहा है। इस प्रकार की शिक्षा से अहिंसक समाज-रचना की परिकल्पना कैसे की जा सकती है।

हिंसा के प्रकार

अहिंसक समाज और अहिंसक व्यक्ति—ये दोनों सापेक्ष शब्द

है। जीवन यात्रा के साथ हिंसा जुड़ी हुई है। इस स्थिति मे क्या अहिंसक समाज और अहिंसक व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है ? इस पहेली को सुलझाने के लिए सापेक्ष शब्द को परिभाषित करना जरूरी है। भगवान् महावीर ने हिंसा के दो प्रकार बतलाए हैं :—

१ अर्थहिंसा—प्रयोजनवश की जाने वाली हिंसा।
२ अनर्थहिंसा—प्रयोजनशून्य अथवा आक्रामक सकल्प से की जाने वाली हिंसा।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने हिंसा को तीन भागो मे विभक्त कर दिया—

१. आरम्भजा-हिंसा—जीवन को चलाने के लिए की जाने वाली हिंसा।
२ विरोधजा-हिसा—प्रतिरक्षात्मक हिंसा।
३. सकल्पजा-हिसा—आक्रामक हिंसा।

अहिंसक समाज

अहिंसक समाज वह होता है, जिसमे सकल्पजा अथवा आक्रामक हिंसा के दरवाजे बन्द हो जाए। जातीय उन्माद, साप्रदायिक अभिनिवेश, शोषण, दूसरे की स्वतत्रता का अपहरण, अधिकार और स्वत्व का अपहरण, जीविका का विच्छेद और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति- यह सारा आक्रामक हिंसा का परिवार है। आक्रामक हिंसा से मुक्त समाज को अहिंसक समाज की अभिधा से अभिहित किया जा सकता है। प्रतिरक्षात्मक हिंसा से बचने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रशिक्षण दिया जा सकता है, किन्तु आक्रामक हिंसा से मुक्ति की भाति प्रतिरक्षात्मक हिंसा से मुक्ति की शर्त उसके साथ नही जोड़ी जा सकती।

परिग्रह हो और प्रतिरक्षात्मक हिंसा न हो, यह बहुत जटिल प्रश्न है। इसकी जटिलता को कम करने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रशिक्षण प्रतिरक्षा के विकल्प के रूप मे दिया जाना चाहिए। जीवन-यापन में हिंसा अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है किन्तु उसमे भी अनावश्यक हिंसा न हो, इसका प्रशिक्षण आवश्यक है। भूमि, जल और पेड़-पौधों के प्रति की जाने वाली अनावश्यक प्रवृत्ति ने पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या पैदा की है, सृष्टि-सन्तुलन को

विनष्ट किया है।

अहिंसा : अस्तित्व और विकास

शिक्षा मानवीय विकास के लिए है। अहिसा का प्रश्न मानवीय अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। अस्तित्व के सुरक्षित रहने पर ही विकास की सम्भावना की जा सकती है। इसलिए शिक्षा और अहिसा मे एक गहन सम्बन्ध जरूरी है, जिससे अस्तित्व और विकास—दोनो की परम्परा सुरक्षित रह सके। इस सन्दर्भ मे मूल्य-परक शिक्षा अथवा जीवन विज्ञान वर्तमान युग की अनिवार्यता है। अहिसा सर्वोपरि मूल्य है। अहिसा के प्रतिष्ठित होने पर शेष सब मूल्य प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अहिसा के अभाव मे शेष सब मूल्य विघटित हो जाते हैं। भारतीय दर्शन मे पाच मूल्यो का स्वीकार मिलता है। वास्तव मे सत्य आदि चार मूल्य अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं। कहा भी है—**अहिसा पयस पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।**

असत्य वचन हिंसा है, चोरी हिंसा है, कामवासना हिंसा है, और सग्रह हिंसा है। अहिसा का विकास होने पर सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अपने आप मे विकास होता है।

मूल्य का स्रोत

मूल्यपरक शिक्षा मे क्या मूल्य के स्रोत पर विचार करना आवश्यक नही है? सहिष्णुता, मृदुता, अहकार विलय, ऋजुता, अमूर्च्छा या अनासक्ति—ये पाच मूल्य के स्रोत हैं। हिंसा के मूल हेतु चार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका परिष्कार ही अहिसा की प्रतिष्ठा का मूल हेतु बनता है।

जरूरी है समन्वय

मूल्यपरक शिक्षा केवल बौद्धिक विकास की प्रक्रिया मे सम्भव नही है। इसके लिए मस्तिष्क के उन प्रकोष्ठो को जागृत करना आवश्यक है, जो आध्यात्मिक अथवा नानिमिक विकास के लिए उत्तरदायी है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मे उन प्रकोष्ठो के जागरण पर ध्यान नही दिया गया है। पृथ्वी के वातावरण और मानवीय अस्तित्व की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि इस विषय पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो और मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा

नए समाज और नए मनुष्य की रचना की दिशा में हमारे चरण आगे बढ़ें।

नए मनुष्य का निर्माण का लक्ष्य सवेग-सन्तुलन की अभ्यास-पद्धति-पर निर्भर है। दूसरे की स्वतंत्रता का सम्मान, दूसरे की समस्या को समझने का प्रयत्न और सबके साथ समानता का व्यवहार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने अपने सवेगो को संतुलित करने का अभ्यास किया है। केवल सिद्धात लक्ष्य तक नही पहुचाते इसलिए सैद्धातिक शिक्षण के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण का समन्वय अपेक्षित है। आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण और आत्म-दर्शन सबके लिए जरूरी है। उन लोगो के लिए अधिक जरूरी है, जो समाज का नेतृत्व कर रहे हैं, सत्ता और शक्ति के सिंहासन पर आसीन है।

२५. अहिंसा और समाज

बीसवी सदी का सध्याकाल और इक्कीसवी सदी का प्रभात सामने दिखाई दे रहा है। वह कैसा होगा ? यह प्रश्न लोगो के मानस मे उभर रहा है। आज जो रक्तरजित वातावरण दिखाई दे रहा है। उससे कुछ आशकाए उमड़-घुमड़ रही हैं। सम्भवत हिंसा तो मनुष्य की प्रकृति मे सदा से रही है पर आज हिंसा के प्रशिक्षण के अनेक सेन्टर चल रहे हैं, ऐसे विद्यालय चल रहे हैं, जहा आतक का प्रशिक्षण दिया जा रहा है, उग्रवादी तैयार किये जा रहे हैं, एक समय था, तब युद्ध तो होता था पर युद्ध की कुछ मर्यादाए थी, आचार-सहिता थी। सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द हो जाता, कोई किसी को मारता नही था, निहत्थे व्यक्ति को नही मारा जाता था। दिन मे युद्ध लडते और रात मे परस्पर गले मिलते। आज कोई मर्यादा नही है। निरपराध हो या निहत्था— किसी को भी मारा जा रहा है। यह मारने की प्रवृत्ति इतनी बढ गई है, जिसकी कोई सीमा नही है। प्रश्न होता है—शायद मारते-मारते कोई बचेगा कि नही ? आज एक ऐसा उन्माद और पागलपन छा गया है, जिससे पूरा परिवेश प्रभावित है। इस वातावरण मे अहिंसा की बात करना बहुत प्रासंगिक है।

अहिंसा के संदर्भ

अहिंसक का पहला लक्षण है, अभय होना। व्यक्ति अहिंसक हो और भयभीत भी हो, यह सम्भव नही है। यदि ऐसा है तो मानना चाहिए सूरज भी है और गहरा अन्धकार भी है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के साथ जो सबसे पहली शर्त रखी, वह थी अभय। कही कायरता नहीं। जब हिंसा के साथ आज सारा समाज मर रहा है तो अहिंसा के रहते हुए कोई व्यक्ति मर जाए तो क्या कठिनाई है ?

अहिंसा का विस्तार अनेक सन्दर्भों मे होता है। कुछ सन्दर्भ ये हैं : —

- आत्महत्या न करना ।
- पर-हत्या न करना ।
- भ्रूण-हत्या न करना ।
- क्रूर हिंसा से निर्मित प्रसाधन-सामग्री का प्रयोग न करना ।

बढ़ती हिंसा

आत्महत्या और परहत्या आज बडी बीमारी है । जापान आज आर्थिक स्थिति मे अगुआ देश है किन्तु जापान की समस्या यह है कि वहा पर हर पांचवे सैकड मे एक आत्महत्या होती है । हत्या की घटनाए भी इसी तथ्य को रेखाकित कर रही हैं । पजाब, कश्मीर, असम, विहार आदि क्षेत्रों मे हिंसा की जो स्थिति है, उससे ऐसा लगता है—आदमी को तोड़ना किसी तिनके को तोडने जैसा हो गया है ।

तीसरी समस्या है भ्रूणहत्या की । आज भ्रूणहत्या जिस तेजी से वढ़ रही है, वह एक गम्भीर स्थिति है । आश्चर्य होता है—वडे-वडे शहरो मे क्लिनिक खुल रहे है, उनमे भ्रूणहत्या का चक्र-सा चल रहा है । अमेरिका मे एक फिल्म वनी है सायलेंट क्राइज । उस फिल्म ने अमेरिकी नागरिको को हिला दिया । उसे देखकर अमेरिका मे तहलका मच गया । उसमे यह दिखाया गया है कि भ्रूणहत्या से क्या होता है ? तीन माह के भ्रूण को जव मारा जाता है, तव वह रोता है, चीखता और चिल्लाता है । इतना करुणाप्रद दृश्य कि आदमी देखते ही विचलित हो जाता है । अमेरिकी सरकार ने भ्रूणहत्या पर प्रतिवन्ध लगा दिया किन्तु आज भी गर्भपात का प्रश्न प्रत्येक देश और समाज के सामने गम्भीर चुनौती के रूप मे प्रस्तुत है ।

पर्यावरण-विज्ञान का रहस्य

जीवनशैली के सन्दर्भ मे महावीर का यह दृष्टिकोण वहुत महत्त्वपूर्ण है—अनर्थ हिंसा से वचो । यह माना कि हिंसा जीवन की अनिवार्यता है किन्तु मनुष्य विवेक से काम ले तो अनर्थ हिंसा से वहुत वचा जा सकता है । जहा अनर्थ हिंसा की वात आती है, वहा पर्यावरण-प्रदूषण की वात भी आ जाती है । यह पर्यावरण की समस्या अनर्थ हिंसा से उपजी समस्या है । प्राचीनकाल मे कहा

गया—पन्द्रह कर्मादान का त्याग करो। यह आंदोलन भी चला—बड़े कारखाने मत खोलो, लघु उद्योगों को प्रोत्साहन दो। बड़े-बड़े कारखाने बहुत खतरे का कारण बनेंगे। महात्मा गांधी ने विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और विकेन्द्रित शासन-सत्ता पर जो बल दिया, वह कर्मादान-निषेध या पर्यावरण-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण फार्मूला बन सकता है।

प्रसाधन सामग्री का विवेक

जीवन शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग होना चाहिए—क्रूरतापूर्ण ढंग से तैयार की गई प्रसाधन सामग्री का प्रयोग न हो। कुछ लोग फर की टोपी पहनते हैं। क्या वे नहीं जानते कि ये कैसे बनती हैं? न जाने कितने प्राणियों की हत्या होती है, तब ये टोपियां बन पाती हैं। आज कुछ ऐसी संस्थाएं बनी हैं, जो अमेरिका, यूरोप, हिन्दुस्तान आदि देशों में सक्रिय हैं, वे इस बात पर बल दे रही हैं—क्रूरतापूर्ण प्रसाधन सामग्री के निर्माण को बंद किया जाए।

आज की बदली हुई परिस्थितियों में अहिंसा को समझने के लिए इन सारे संदर्भों को समझना होगा। हिंसा ने क्या रूप लिए हैं और किस प्रकार अभिव्यक्त हो रही है, इस पर ध्यान देना जरूरी है। शुद्ध जीवनशैली में विश्वास रखने वाला अहिंसा को इस रूप में अपनाए, इस हिंसा की जलती हुई ज्वाला में कोई शीतल जल की फुहार डालने वाला जन्मे, जिससे हिंसा की उष्मा कम हो, यह आग चारों ओर न फैल पाए। अहिंसा के द्वारा हिंसा के शमन का यह अभिक्रम चले तो इक्कीसवीं शताब्दी में प्रयाण लेने वाला मनुष्य अहिंसक समाज संरचना के सपने को आकार दे सकेगा।

२६. समाज व्यवस्था के मौलिक आधार

यदि हम समाज का सदर्भ छोड दे तो चरित्र, आचार और नैतिकता की व्याख्या सिमट जाएगी और इतना छोटा-सा विंदु वन जाएगा कि उसे देखने के लिए माइक्रोस्कोप की जरूरत पडेगी। आचार और नैतिकता का विकास समाज के सदर्भ मे हुआ है। कोई दूसरा है तो अहिंसा है, सत्य है। जहां दूसरा नही है, वहा सत्य, असत्य का प्रश्न ही नही है। अचौर्य, अपरिग्रह का मूल्य भी समाज के संदर्भ मे है। अब्रह्मचर्य का भी बहुत व्यापक रूप समाज के सदर्भ मे है।

चरित्र का संदर्भ

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच हमारे चरित्र के मूल आधार माने जाते हैं। इनकी व्याख्या जैनागमो मे की गई है, बौद्ध-दर्शन, पातजल योग-दर्शन और महात्मा गांधी ने भी की है। दो-तीन हजार वर्षों से लेकर अब तक जिसकी व्याख्या चरित्र या आचार के रूप में होती आई है, वह चरित्र समाज के सन्दर्भ मे है। अठारह पाप वतलाए गए हैं। यदि समाज का सन्दर्भ छोड़ दे तो एक ही पाप है, वह भी वहुत छोटा रह जाएगा।

हम चरित्र और आचार के विकास की वात करे, यह जरूरी है पर इसके लिए समाज को समझना जरूरी है, समाज व्यवस्था को समझना जरूरी है। समाज क्या है? सामाजिक व्यवस्था का आधार क्या है? समाज कैसे चलता है? यदि हम समाज के मूलभूत आचार को न समझें तो चरित्र और आचार को समझना भी कठिन होगा। नैतिकता तो पूर्णत. समाज पर आधारित है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करे, यह है नैतिकता। पुराना शब्द है—चरित्र। नैतिकता शब्द इन शताब्दियो मे व्यवहृत होने लगा है। नीति शब्द से वना है नैतिकता। नैतिकता समाज-सापेक्ष है इसीलिए समाज के मूल आधार को जानना जरूरी है। इस युग

मे इस विषय पर काफी चिन्तन हुआ है। अणुव्रत के परिप्रेक्ष्य मे उसकी मीमासा से एक नया पक्ष सामने आ सकता है।

स्वतंत्रता और नियन्त्रण

अणुव्रत के विचारक से पूछा जाये—समाज-व्यवस्था का मूल आधार क्या है तो उसका उत्तर होगा—समाज व्यवस्था का मूल आधार है अनेकान्तवाद। हम इस सचाई को समझें। व्यक्तियो से समाज बना या जगल से समाज बना ? अरण्य से नगर बना है। अरण्य मे समाज नही था। अरण्यवास छूटा और समाज बना तब कहा गया—जगल मे सब स्वतन्त्र थे। समाज बन रहा है पर हमारी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। यह थी समाज व्यवस्था की पहली शर्त। समाज व्यवस्था का पहला आधार बनता है स्वतन्त्रता, पर इससे समस्या पूरी हल नही होती। प्रश्न आया- जहा हजार आदमी मिले, वहां स्वतन्त्रता मे बाधा आएगी। उस स्थिति मे क्या करना चाहिए ? समाधान मिला—स्वतन्त्रता के साथ नियन्त्रण भी जरूरी है। अनेकान्त का पहला सूत्र बन गया - स्वतन्त्रता और नियत्रण। नियत्रण इसलिए कि सभी को स्वतत्रता रहे। स्वतत्रता की भी एक सीमा होनी चाहिए। जहा नियत्रण नही होगा, वहा स्वतत्रता टिक नही पायेगी। नियन्त्रण का मतलब है—एक शक्तिशाली व्यक्ति भी किसी कमजोर की स्वतन्त्रता मे बाधा न डाले। यह स्वतन्त्रता और नियन्त्रण का सन्तुलन समाज-व्यवस्था का पहला मौलिक आधार है।

समानता और असमानता का सामजस्य

समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार खोजा गया- समानता, सबके प्रति समान व्यवहार होना चाहिए। समानाधिकार शब्द मधुर लगता है पर यह बात ऐकान्तिक नही हो सकती। भगवान् महावीर ने कहा--'णो हीणे णो अइरित्ते'- कोई हीन नही है, कोई अतिरिक्त नही है, यह निश्चयनय की बात हो सकती है किन्तु व्यवहारवाद मे यह नियम सभव नही है। व्यवहार के क्षेत्र मे हीनता और अतिरिक्तता प्रकृति के नियम जैसा है। जहा हम शरीर के साथ जीते है, प्राण-यात्रा के साथ जीते है, मस्तिष्क के साथ जीते है, वहा असमानता भरी पड़ी है। समानता की बात सर्वत्र एकरूपता मे कैसे लागू हो सकती है ? जहा न्याय और औचित्य का प्रश्न है,

वहां समानता भी है, असमानता भी है। जब आर्थिक दृष्टि से समानता की बात सोची गई तब यह सोचा गया—एक मजदूर को न्यूनतम इतना मिलना चाहिए, जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण हो सके। यह न्यूनतम आय का निर्धारण तो कर दिया गया पर अधिकतम का निर्धारण नही किया गया। साम्यवादी व्यवस्था में भी जहा एक मजदूर को पांच सौ, हजार रुबल मिलते थे, वहा एक साहित्यकार-विचारक को दस-पन्द्रह हजार रुबल मिलते थे। यह न्यूनतम मर्यादा तो की जा सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आय इतनी मिलनी चाहिए किन्तु समानता की बात सर्वत्र लागू नही होती। समाज व्यवस्था मे समानता और असमानता—दोनो का मूल्य है। जीवन की जो मूल आवश्यकताए हैं, वे सबकी समान है और उनकी पूर्ति समानता के आधार पर होनी चाहिए। जहा व्यवस्था का प्रश्न है, न्याय का प्रश्न है, बुद्धि और कौशल का प्रश्न है, वहा समानता की बात कभी सम्भव नही बन सकती। अनेकान्तवाद पर आधारित समाज व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है—समानता और असमानता का औचित्यपूर्ण सामजस्य।

सहयोग

समाज-व्यवस्था का तीसरा सूत्र है—सहयोग। यदि सहयोग नही है, तो समाज क्या है ? दो साथ रहे तो एक दूसरे का योग होना चाहिए। यह समाज-व्यवस्था का मूल आधार है। पाच व्यक्ति साथ रहते हैं और परस्पर सहयोग नही है तो प्रत्येक के आगे कोमा लग जाएगा। हम इस भाषा मे समझें—१, १, १—ये कोमा लगने से तीन बनते हैं। यदि कोमा हटा तो १११ हो जाएगे। जहां अर्ध-विराम और पूर्णविराम लगता चला जाए, वहा समाज नही बनता। जहां समाज होगा, वहा कोमा या पूर्णविराम नही होगा। वहां एकसूत्रता होगी, सहयोग होगा। यह चिन्तनीय प्रश्न है—दो व्यक्ति साथ रहे और एक दूसरे को योग न दे। इसका अर्थ है—वे समाज का मूल्य नही जानते, साथ रहने की उपयोगिता नहीं जानते। जैन दर्शन की भाषा है—एक परमाणु एक आकाश प्रदेश मे अवगाढ है किंतु वह स्कध नही है। एक आकाश प्रदेश मे अनन्त प्रदेशी स्कध भी होते हैं और परमाणु भी। अनत परमाणु हैं पर वह स्कध नहीं बनता। जब तक योग नही होता, बंध नही होता तब तक परमाणु

स्कध नही बन सकता। समाज तभी बनता है जब योग होता है, सहयोग होता है।

जरूरी है असहयोग भी

सम्यक् समाज-व्यवस्था के लिए जितना सहयोग जरूरी है, असहयोग भी उतना ही जरूरी है। महात्मा गाधी ने कहा था—असहयोग करो, विनयपूर्वक असहयोग करो। एक साधक का शरीर यदि सयम की यात्रा के लिए चलता है, तो वह उसका सहयोग करता है। यदि वह सयम में बाधक बने तो उसके साथ असहयोग भी करो। शरीर को पोषण देना बन्द कर दो। ऊनोदरी, उपवास आदि तपस्या करो। तपस्या के प्रयोग के साथ असहयोग के प्रयोग है। उसे इतना सहयोग मत दो कि शरीर सयम में बाधक बन जाए। बुराई के साथ असहयोग करना समाज-व्यवस्था का मुख्य सूत्र है। जैसे एक व्यक्ति दहेज के लिए एक युवती को जिदा जला देता है। ऐसे क्रूरकर्मी व्यक्ति के साथ समाज को असहयोग करना चाहिए। उसके विवाह-शादी आदि प्रसगो का बहिष्कार कर असहयोग किया जाता है। मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास आदि दड-विधान बुराई के प्रतिकार और असहयोग के लिए ही हैं।

सहानुभूति असहानुभूति

समाज-व्यवस्था का चौथा सूत्र है—सहानुभूति। समाज मे सहानुभूति का बहुत विकास हुआ है। किसी एक व्यक्ति के दर्द होता है, तो सौ व्यक्ति दर्दी बन जाते हैं, सहानुभूति व्यक्त करने चले आते हैं। व्यक्ति मर जाता है तो सवेदना और सहानुभूति जताने के लिए सैकडो व्यक्ति उपस्थित हो जाते हैं। दूसरे की सहानुभूति से व्यक्ति का दु.ख-दर्द हलका हो जाता है। उसे लगता है—उसका दु ख-दर्द केवल उसका ही नही है, समाज भी उसके साथ जुडा हुआ है। एक ओर सहानुभूति की चेतना विकसित है तो दूसरी तरफ असहानुभूति की चेतना भी विकसित है। वह व्यक्ति जो गलत और अनैतिक कार्यों मे लिप्त है, समाज की सहानुभूति खो देता है।

सहिष्णुता : असहिष्णुता

समाज-व्यवस्था का पाचवा आधारसूत्र है—सहिष्णुता। समाज में कितने प्रकार के लोग है। विभिन्न रुचियां और विभिन्न

मूल्य वाह्य मूल्य है। भूख लगी है तो रोटी का मूल्य होगा। यह पदार्थ-सापेक्ष मूल्य है। भूख है तब रोटी का मूल्य ज्यादा है और भूख न हो, तब उसका मूल्य घट जाता है। राजस्थान की प्रचलित कहावत है—भूख मीठी या लापसी। मीठी होती है भूख। ये वाह्य मूल्य—साधन-मूल्य वदलते रहते है। जब जरूरत होती है, साधन के रूप मे काम आ जाते हैं और जब जरूरत नही रहती है तब बहुत मूल्यवान् नही रहते। अनेकांत की दृष्टि से देखें तो ये मूल्य है भी और नही भी। आवश्यकता और उपयोगिता है तो मूल्य है। आवश्यकता और उपयोगिता नही है, तो मूल्य नही है। मूल्य का आधार है उपयोगिता। एक आदमी के पैर मे चोट लग गई। उसके लिए वैशाखी का बहुत मूल्य है। कुछ दिन दवा ली, पैर ठीक हो गया, पैरो मे ताकत आ गई। पूर्ण स्वस्थ हो गया। यदि उस समय उसके पास वैशाखी ले जाए तो वह कहेगा—यह बीच मे खोडा लाकर किसने रख दिया ? पदार्थ-सापेक्ष मूल्य का यह एक निदर्शन है।

जो आंतरिक मूल्य है, आचार या चरित्र से सबंधित मूल्य हैं, वे साध्य-मूल्य है, साधन-मूल्य नही। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि साध्य-मूल्य हैं। ऐसा नही है कि इनकी कभी जरूरत होती है और कभी नही होती। इन्हे जीवन मे सदा उपलब्ध करना है, इनका सदा विकास करना है। ये मूल्य ही जीवन को सदा उन्नत बनाते हैं। व्यक्ति और समाज के विकास मे ये मूल्य ही सहायक बनते हैं इसलिए प्रत्येक क्षेत्र मे मूल्यो की चर्चा है।

मूल्यों का वर्गीकरण

जीवन विज्ञान मे मूल्यो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. सामाजिक मूल्य—कर्तव्यनिष्ठा और स्वावलम्बन—ये सामाजिक मूल्य है।
२. वौद्धिक मूल्य—सत्य, समन्वय, सप्रदाय निरपेक्षता और मानवीय एकता—ये वौद्धिक मूल्य हैं।
३. मानसिक मूल्य—मानसिक सतुलन और धैर्य—ये मानसिक मूल्य हैं।
४. नैतिक मूल्य—प्रामाणिकता, करुणा और सह-अस्तित्व—ये नैतिक मूल्य हैं।

५. आध्यात्मिक मूल्य —अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय और आत्मानुशासन ये आध्यात्मिक मूल्य है।

मूल्य का संदर्भ

कुछ मूल्य ऐसे होते है, जो समाज के लिए जरूरी है। आचार्य भिक्षु का यह दृष्टिकोण बहुत उपयोगी है- जहा समाज-व्यवस्था को चलाना है, समाज के आधार पर चिंतन करना है, वहा नैतिकता और धर्म को बीच मे लाने की जरूरत नही। वहा सामाजिक दृष्टि से ही सोचना होगा। जहा राष्ट्रीय हित की दृष्टि है, वहां राष्ट्रीय दृष्टि से ही सोचना होगा। एक संदर्भ है युद्ध का। युद्ध करें या नही ? राष्ट्रीय हित की दृष्टि से युद्ध करना जरूरी है। यदि वहा धार्मिक दृष्टि से सोचा जाएगा तो मूर्खतापूर्ण बात होगी। वहां भूमिका से हटकर ही सोचना होगा। यदि धर्म के सिद्धात को लेकर अटक जाएंगे तो राष्ट्र की समस्या का समाधान नही हो पाएगा। राष्ट्रीय धरातल पर खडे होकर सोचने से ही राष्ट्रीय विकास की बात सम्भव बन पाएगी। सामाजिक संदर्भ मे जहा विवाह आदि का प्रसग है, वहा आध्यात्मिक दृष्टि से सोचेंगे तो समस्या प्रस्तुत हो जाएगी। अध्यात्म का स्वर होगा—व्यक्ति अकेला आया है, अकेला जाएगा। विवाह का क्या करना है ?

समस्या है मिश्रण

समस्या यह हो गई—हमने मूल्यो का मिश्रण कर दिया। मूल्यो का मिश्रण नही होना चाहिए। जिस भूमिका मे जो मूल्य है, उसको उसी भूमिका मे काम मे लिया जाना चाहिए। मूल्यों का मिश्रण समस्या को उलझा देता है। एक व्यक्ति ने किसी धरातल पर साहित्य लिखा, दूसरे व्यक्ति ने उसे किसी धरातल पर ले लिया, तो समस्या पैदा हो जाती है। साहित्य का अपना दर्शन और मूल्य होता है। उसमें धर्म को फसा दे तो समस्या खडी हो जाती है। जहा सामाजिक और राष्ट्रीय समस्या का प्रश्न है, वहा धर्म को बीच मे लाना कहा तक संगत है ? इस विषय मे जैन आचार्यों का दृष्टिकोण बिल्कुल साफ रहा- लौकिक और लोकोत्तर—ये दो नियम है। लोकोत्तर नियम लौकिक नियम का समर्थन नहीं करते और उसमे बाधा भी नही डालते। दोनों नियम अपने क्षेत्र मे काम

२८. समाज और समानता

धर्म को समझने के लिए जितना व्यक्ति को समझना जरूरी है, उतना ही जरूरी है समाज को समझना। धर्म के साथ कर्म का सिद्धान्त जुडा हुआ है। कर्म की व्याख्या व्यक्ति और समाज--दोनो के सदर्भ मे होती है। जैन कर्म-विज्ञान के अनुसार गोत्र कर्म आठ प्रकार से भोगा जाता है—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य। रूप, वल, श्रुत, तप—ये व्यक्ति से सबधित हैं। जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य—ये समाज से संवधित है। कर्म-प्रकृतियो का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि कुछ कर्म-प्रकृतिया समाज सापेक्ष वताई गई है। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक जिन कर्म-प्रकृतियो का कोई विशेष अर्थ नही होता, अकेले आदमी मे भी उनका विशेष अर्थ नही होता, परन्तु समाज के सदर्भ मे वे कर्म-प्रकृतिया सार्थक वन जाती हैं।

कर्मविपाक और समाज

आठ कर्मों मे एक कर्म है—मोहकर्म। मोहकर्म की कुछ प्रकृतियां समाज-सापेक्ष हैं। क्रोध के लिए कोई दूसरा चाहिए। अहकार के लिए तो पूरा समाज चाहिए। दूसरा न हो तो क्रोध उदय में नही आएगा। समाज न हो तो अहकार उदय मे नही आएगा। कर्म के विपाक मे सामग्री वनता है समाज। यदि समाज है तो अहंकार है। समाज नही है तो अहकार नही है। कपट के लिए भी यही वात है। लोभ के वढने का कारण भी समाज है। एक स्पर्धा होती है, व्यक्ति सोचता है—उसने इतना धन कमा लिया, मैंने कम कमाया है। उसने इतना वड़ा मकान वना लिया, मैं इससे भी वडा वनाऊगा। अहं के विस्तार मे समाज निमित्त वनता है। जुगुप्सा, घृणा आदि की अभिव्यक्ति भी समाज-सापेक्ष है। समाज न हो तो शायद घृणा का प्रसग ही न आए। कर्म की ऐसी अनेक प्रकृतिया हैं, जिन्हे समझने के लिए समाज की स्थितियो को समझना जरूरी है।

विकास के साथ

समाज-विज्ञान का ज्ञान सामाजिक व्यक्ति के लिए ही नही, धार्मिक व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है। यदि समाज की सारी स्थितियो को पढे तो पता चलेगा—समाज मे क्या स्थितिया है ? वे कैसे बनती हैं ? रूढियां और धारणाएं कैसे पनपती हैं। हम प्रागैतिहासिक युग को देखे। उस समय समाज में घृणा का विकास नही था। घृणा किससे हो ? एक बहुत छोटा-सा वर्ग, एक जोडा (युगल) घूमता रहता। न कोई कुल, न गांव, न नगर, न समाज और न जाति। कोई बडप्पन और छुटपन नही था। अहकार का विपाक कम था। घृणा कहा से आती ? धीरे-धीरे मनुष्य-जाति का विकास हुआ, समाज बना। केवल वस्तु और पदार्थ जगत् का ही विस्तार नही हुआ, किन्तु वृत्तियों का भी विकास हुआ। बहुत सारे कर्मों को उदय मे आने का अवसर मिला। मोहनीय कर्म को उदय मे आने का अवसर समाज मे ज्यादा मिलता है। यदि समाज न हो तो मोहनीय कर्म का विपाक कहा होगा ? यदि अकेला आदमी पहाड की गुफा मे बैठ जाए, वर्षों तक वही जीवन बिताए तो कौन-सा मोहनीय कर्म विपाक मे आएगा ? वहा अवस्थित व्यक्ति किससे प्रतिस्पर्धा करेगा ? किसका लोभ करेगा ? किस पर अहकार करेगा ? घृणा किससे होगी ? बहुत सारी प्रकृतियां शान्त रहेंगी।

आत्म-कर्तृत्व

यह हमारा ही आत्म-कर्तृत्व है कि हम निमित्तो को बना लेते है, स्थितियों को भी बदल देते है, तो कर्म के विपाक का मंदीकरण भी कर सकते हैं। विपाक में उदय मे आने वाला कर्म प्रदेशोदय मे आकर समाप्त हो जाता है। यह आत्म-कर्तृत्व का सूत्र है—जो विपाक मे आने वाला है, उसे प्रदेशोदय मे भुगत लेना। इस कर्तृत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है कर्म को बदलने का सामर्थ्य। सडके बदली जा सकती हैं, मकान नए बनाए जा सकते है, पदार्थ की आकृति या प्रकृति को बदला जा सकता है, किन्तु कर्म जैसे सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश करना और उसे बदल देना, कितना बड़ा कर्तृत्व है। विपाकोदय का प्रदेशोदयीकरण आत्म-कर्तृत्व का स्वयम्भू प्रमाण है।

यह देखा जाता है—सामान्य परिवार मे जो व्यक्ति जन्म लेता है, वह परिश्रमी और सहनशील होता है। जो आर्थिक संकट मे पलता-पुषता है, वह शायद अधिक अच्छा होता है। दुनिया मे जितने वडे-वडे लोग हुए हैं, वे प्राय. साधारण गांवो के वहुत साधारण घरो मे जन्मे। जहां दूसरे का शोषण नही होता, दूसरो के लिए कुछ करने की वात होती है, वह समाज अपने आप मे अनूठा समाज होता है, विकास के शिखर को छूने वाला समाज होता है।

शोषण : धार्मिक दृष्टि

शोषण न करें—इस सूत्र का धार्मिक दृष्टि से भी मूल्याकन करें। धार्मिक दृष्टि यह है—दूसरे के श्रम का शोषण करना हिंसा है, अहिंसा का अतिचार है। दूसरे की वृत्ति का छेद न करना, अहिंसा व्रत का एक नियम है। जिसने अहिंसा का व्रत स्वीकार किया है, यदि वह यह सकल्प स्वीकार करता है—मैं किसी प्राणी का सकल्पपूर्वक वध नही करूगा। यदि व्यक्ति दूसरे का शोषण करता है तो इस व्रत को वाधा पहुचाता है। शोषण एक प्रकार से दूसरे के प्रति घात हो जाती है। किसी के घर मे पाच-सात आदमी हैं। वह पूरा श्रम करता है। और उसे २०० रुपये प्रति मास मिलते है। क्या यह संकल्पपूर्वक घात नही है? भगवान् महावीर ने इस तथ्य को सूक्ष्मता से देखा। उन्होने कहा—यह एक प्रकार से मारने का ही प्रयत्न है। पूरा काम लेना और आजीविका का शोषण करना, अहिंसा व्रत का दोष है।

व्रत व्यवस्था

प्रश्न हो सकता है—भगवान् महावीर ने व्रतों पर इतना जोर क्यों दिया? कारण यही हो सकता है—ये व्रत धार्मिक दृष्टि से जितने मूल्यवान् हैं, सामाजिक दृष्टि से उससे कम मूल्यवान् नही हैं। यद्यपि समाजशास्त्र, आचारशास्त्र आदि लिखे गए और उनमे अरस्तु, सुकरात आदि यूनानी दार्शनिकों को आधार वनाया गया। पता नही क्या वात है—किसी हिन्दुस्तानी लेखक ने महावीर की व्रत व्यवस्था को कभो आधार नही वनाया। इसका क्या कारण हो सकता है? उनका दृष्टिकोण सकीर्ण रहा है अथवा उन्हे सामग्री ही प्राप्त न हुई हो? प्राकृत भाषा का व्यवधान भी कारण हो सकता है। कारण कुछ भी हो लेकिन इतना स्पष्ट है—महावीर को

व्रत-व्यवस्था आज भी अज्ञात है, अंधेरे मे है। आज उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

श्रम का विभाजन

अहिंसा व्रत का एक उपव्रत है—मैं दूसरे का शोषण नही करूंगा। दूसरे का शोषण नही होगा तो अपना श्रम बढेगा। आज श्रम के प्रति थोडा वैकल्य पैदा हो गया है। इसका एक कारण है—आदमी आराम चाहता है। दूसरा कारण यह मनोवृत्ति है—मैं आराम करू और फल भी मुझे मिल जाए। यह एक मिथ्या धारणा बन गई—श्रम करने वाला छोटा होता है और श्रम न करने वाला बडा होता है। इस दृष्टिकोण ने श्रम की व्यवस्था और महत्त्व को भुला दिया। हम इस सचाई को भुला रहे हैं—दुनिया मे जितने भी महान् आदमी हुए है, वे प्राय: श्रमिक हुए हैं। आचार्यश्री निरन्तर १५-१६ घण्टे श्रम करते हैं। क्या ये श्रमिक नही हैं? जो श्रमिक नही है, वह सच्चा शासक भी नही हो सकता। कहा गया - पृथ्वी रूपी गाय का लाभ तीन व्यक्ति उठा पाते हैं। उनमे एक है श्रमिक। श्रमिक का अर्थ यह नही है कि वह फावडा ही चलाए। यह श्रम का विभाजन है। कुछ लोग मानते हैं जो उत्पादक श्रम नही करता, उसका श्रम नही माना जा सकता। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है। व्यावहारिक दृष्टि मे समाज मे श्रम का विभाजन होता है। उस विभाजन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना काम करे, कोई निकम्मा न रहे तो श्रम का मूल्यांकन संभव बन सकता है।

प्रगति का सूत्र

श्रम की प्रतिष्ठा का यह सूत्र जीवनशैली का अनिवार्य अंग होना चाहिए। जितने भी पुरुषार्थवादी हुए हैं, उनमे प्रथम पंक्ति मे गिने जाते हैं भगवान् महावीर। बहुत लोग नियतिवादी हैं। पुरुषार्थवादी ईश्वरवादी नहीं हो सकता। ईश्वरवाद नियतिवाद है। जो होगा, वह ईश्वर के द्वारा ही होगा। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। यह है—ईश्वरीय नियतिवाद। इसमें पुरुषार्थ की ज्वाला को प्रज्वलित नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर ने नियतिवाद का खण्डन कर पुरुषार्थवाद का प्रतिपादन किया। जहां आत्मकर्तृत्ववाद मान्य है वहां कोई भी

व्यक्ति श्रम किए बिना रह नही सकता। जिसमें श्रम की निष्ठा नही होती, जो श्रम नही करता, वह सचमुच पिछड जाता है। श्रम-निष्ठा प्रगति और विकास का रहस्य-सूत्र है।

चारी सजीवनी न्याय

आचार्य हेमचन्द्र जा रहे थे, साथ मे राजा सिद्धराज भी चल रहे थे। राजा सिद्धराज ने पूछा—'कौन सा धर्म अच्छा है ?'

'राजन् ! बहुत सारे धर्म हैं और अच्छे भी हैं, पर धीरे-धीरे समझ मे आ जाएगा—कौन-सा धर्म अच्छा है।'

'महाराज ! कैसे समझ मे आएगा ?'

'राजन् ! श्रम करोगे तो समझ मे आ जाएगा।'

'महाराज ! यह कैसे होगा ?'

'राजन् ! चारी-संजीवनी न्याय से पकड़ मे आएगा।'

'महाराज ! यह चारी-संजीवनी न्याय क्या है ?

'राजन् ! एक महिला को ऐसी औषधि मिली, जिसे किसी मनुष्य को खिला दे तो वह पशु बन जाए। एक दूसरी औषधि भी मिली, जिसे खिलाने पर पशु पुनः मनुष्य बन जाए। उसके मन में प्रयोग करने की भावना जागी। किस पर उसका प्रयोग करे ? उसने अपने पति पर ही उस दवा का प्रयोग किया। पति बैल बन गया। संयोग ऐसा मिला—पुनः मनुष्य बनाने वाली औषधि गुम हो गई। अब क्या करे ? उसे इतना ज्ञात था—अमुक बड के पास ही वह औषधि है, जिसे खिलाने पर पुनः मनुष्य बनाया जा सकता है पर यह पता कैसे चले कि अमुक औषधि वही है। कुछ क्षण विमर्श कर उसने निश्चय किया—प्रत्येक औषधि का परीक्षण करना होगा। उसने एक-एक जड़ी को काट-काट कर खिलाना शुरू किया। काटते-काटते वह जडी भी आ गई। उसे खाते ही बैल पुन. पुरुष बन गया।

महिला ने पूरा श्रम किया, उसे पति उपलब्ध हो गया। यदि वह इतना श्रम नही करती तो उसका पति बैल ही बना रह जाता।'

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—इसी प्रकार अनेक धर्मो का परीक्षण करते-करते तुम्हे वह धर्म मिल जाएगा, जो सबसे अच्छा है।

जीवनशैली का प्रमुख तत्त्व

मनुष्य ने जिन सचाइयों का पता लगाया है, जितने रहस्यो का अनावरण हुआ है, वह मानवीय श्रम और पुरुषार्थ के द्वारा ही हुआ है। आराम और निराशा से किसी भी सचाई को अनावृत नही किया जा सकता। जरूरी है श्रमनिष्ठा और श्रम का अनुशीलन। किन्तु हमारे शरीर की न जाने कैसी रचना है कि मनुष्य श्रम कम करना चाहता है, आराम ज्यादा चाहता है। श्रमनिष्ठा का सिद्धान्त जीवनशैली का मुख्य अग होना चाहिए। जिसने पुरुषार्थ-वाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, जो नियतिवाद को एकान्ततः स्वीकार करता, उसकी जीवनशैली स्वावलम्बन और श्रम-प्रधान होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के दिमाग मे श्रम और स्वावलम्बन की छवि अकित होनी चाहिए। जिसे अपने कर्तृत्व और पुरुषार्थ पर विश्वास है, वह श्रम और स्वावलम्बन की उपेक्षा नही कर सकता। जिसका दिमाग श्रमनिष्ठा का नही होता है, वह परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए बहुत कल्याणकारी नही होता। लोकतत्र का आधार है व्यक्ति। उसके मन मे यदि श्रम के प्रति निष्ठा नही है, स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कैसे संभव होगा? प्रत्येक व्यक्ति की जीवनशैली का प्रमुख तत्त्व है स्वावलम्बन। स्वावलम्बन का तात्पय है—दूसरे के श्रम का शोषण न करना। उसके प्रति निष्ठा घनीभूत बन जाए तो वह समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी एव वरदान जैसी सिद्ध हो सकती है।

३०. वासना पर बुद्धि का नियंत्रण

अहिंसा की लौ इसलिए प्रज्ज्वलित है कि हिंसा मनुष्य के लिए वाछित नही है। वह हिंसा करता है पर चाहता नही है। वह अपने लिए हिंसा विलकुल नही चाहता, अपने आपको सकट की स्थिति मे डालना नही चाहता। इस स्थिति मे अहिंसा की वात सूझती है। आज कोई ऐसा विचित्र प्रकार का सौर विकिरण हो रहा है कि पूरे वातावरण मे हिंसा समा रही है। मनुष्य ने यह धारणा वना ली—समस्याओ का एक मात्र समाधान है हिंसा। उसने निर्विकल्प रूप मे इस आस्था को स्थान दे दिया इसलिए वह प्रत्येक समस्या का समाधान करने के लिए हिंसा का सहारा ले रहा है।

जरूरत है आस्था वदलने की

हम वर्तमान विश्व की स्थिति को देखें, हिन्दुस्तान के परिपार्श्व को देखें। पूर्वांचल, पश्चिमाचल और उत्तराचल को देखें। चारो ओर हिंसा उग्र रूप धारण कर रही है। कही गोलियां, कही पथराव, कही वम विस्फोट और कही वारूदी सुरगे। ऐसा लगता है - समाज मे हिंसा के प्रति वहुत गहरी आस्था हो गई है और वह वहुत अच्छा समाधान प्रतीत हो रही है। ऐसी स्थिति मे कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो दूसरी आस्था लिए हुए हैं। उनके चिन्तन का कोण भिन्न है। उनका चिन्तन है—यदि हिंसा इसी प्रकार वढ़ी तो पूरा समाज सत्रस्त और भयभीत हो जाएगा। जीवन का रस सूख जाएगा। प्राणी भयभीत और आशकित वना रहेगा। पता नही, कव क्या हो जाए? हिंसा मे वढ़ती आस्था को वदलने की जरूरत है।

शरण है अहिंसा

इस आस्था को वदलने और मिटाने के लिए दवा ले। ऐसी दवा, जो नई वीमारी पैदा न करे। यदि दवा नई वीमारी पैदा करती है तो उसे समस्या का समाधान नही माना जा सकता।

आयुर्वेद में दवा के सन्दर्भ में कहा गया—दवा वह है, जो नए रोग को पैदा न करे। औषध उसी का नाम है। आदमी दवा ले और उसका इतना रिएक्सन हो जाए कि जीवन से हाथ धोना पड़े तो वह क्या दवा है? हिंसा की यही समस्या है। वह ऐसी दवा है, जिससे ऐसा लगता है—समस्या सुलझ रही है, बीमारी मिट रही है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया इतनी भयकर होती है कि अनेक नई बीमारिया पदा हो जाती हैं। हम ऐसी दवा की खोज करें, जो नई बीमारी पैदा न करे। वह दवा है अहिंसा। कितनी ही लड़ाइयां लड़ें, वैर-विरोध करें, युद्ध और हिंसक वारदातें करे, समस्या सुलझती नही है। व्यक्ति को अन्तत. अहिंसा की शरण मे जाना पड़ता है, शान्ति के लिए समझौता करना पड़ता है।

अन्तर मनुष्य और पशु मे

अहिंसा की आस्था को जगाने का एक उपक्रम है अणुव्रत आन्दोलन। व्यक्ति और समाज—दोनो मे अहिंसा की आस्था जागे। सबसे पहले व्यक्ति को केन्द्र मे रखना होगा। नैतिकता का दृष्टिकोण हमेशा व्यक्तिपरक रहा है। अणुव्रत का महत्त्वपूर्ण घोषणा सूत्र है—व्यक्ति का निर्माण। व्यक्ति मे दो तत्त्व होते हैं—वासना और बुद्धि। पशु मे वासना होती है, बुद्धि नही होती। मनुष्य और पशु मे यह अन्तर है—पशु अपनी वासना पर नियन्त्रण नही कर सकता, मनुष्य अपनी बुद्धि से वासना पर नियन्त्रण कर सकता है। व्यक्ति-निर्माण का एक अर्थ है—बुद्धि द्वारा वासना पर नियन्त्रण करना। जिसने बुद्धि के प्रयोग द्वारा वासना पर नियन्त्रण करना सीख लिया, उस व्यक्ति का निर्माण शुरू हो गया। हम इस सचाई को स्वीकार करें—वासना प्रत्येक व्यक्ति मे होती है। यदि वासना क्षीण हो जाती है तो निर्माण की बात ही नही है, हिंसा अहिंसा का प्रश्न ही नही है। जिसकी वासना क्षीण हो गई, वह इन सब प्रश्नो से अतीत हो गया। एक सामान्य आदमी भी बुद्धि द्वारा वासना पर इतना नियन्त्रण अवश्य करे, जिससे वह दूसरे के हित का विखडन कर अपने हित की साधना मे न लगे। दूसरे के हितो को चोट पहुचा कर अपना हित साधने की बात वासना की प्रबलता मे ही उपजती है। यदि वासना पर बुद्धि का नियन्त्रण हो जाए, मनुष्य का जीवन नैतिकता, आचार और चरित्र से अनुस्यूत हो जाए तो व्यक्ति

निर्माण की बात सभव बन जाती है।

सुख, वासना और बुद्धि

समस्या यह है- प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। वह सुखवाद की अवधारणा से प्रभावित है इसलिए वह अपनी वासना पर नियन्त्रण नही करना चाहता। वह अधिकाधिक सुख बटोरना चाहता है, सम्पदा बटोरना चाहता है। यह बटोरने की भावना प्रत्येक व्यक्ति मे है इसलिए वासना पर नियन्त्रण नही हो पाता। तीन तत्त्व हैं सुख, वासना और बुद्धि। नियन्त्रण करने मे बाधक है सुख। यहा आदमी की शक्ति कुठित हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति की एक सीमा होती है। कोई भी असीम शक्ति वाला नही है। समस्या यह है—सुख की लालसा मे डूबा मनुष्य अनित्य और अशाश्वत की दौड़ मे लगा रहता है। उसने दूसरे पहलू को देखा ही नही। वह पहलू है—दुनिया मे एक शाश्वत सत्य होता है, कालातीत सत्य होता है। उसकी शरण मे जाने पर ही आदमी स्थायी सुख की ओर जा सकता है, अपने व्यक्तित्व को प्रकट कर सकता है, नैतिकता की जो आतरिक वृत्ति है, उसे बाहर ला सकता है। नैतिकता को प्रकट करने का एक साधन है शाश्वत के प्रति आस्था। जब तक नित्य के प्रति गहरी आस्था नही जुड़ती तब तक स्थायी सुख की कल्पना अधूरी रह जाती है।

नई आस्था का सूत्र

अणुव्रत के सदर्भ मे एक नई आस्था को जगाने का प्रयत्न करना होगा। जो आस्था हिंसा के साथ जुड़ी हुई है, परिग्रह, सुख-सुविधा और लोभ के साथ जुडी हुई है, उसे अहिंसा के साथ, इच्छा-परिणाम और आनदमय जीवन के साथ जोड़ दें। सुख और आनद मे बहुत अन्तर है। सुख वह है, जो बाह्य पदार्थ की प्राप्ति से मिलता है। आनन्द हमारी सहज वृत्ति है, जो भीतर से प्रस्फुटित होती है। यह बात समझ मे आ जाए तो सुख की बात स्वत' कमजोर हो जाए। आज सुख की मनोवृत्ति बढी है। इसका कारण यही है—आनद की बात समझ से परे बनी हुई है। जब समाज को एक नई दृष्टि देनी है तो नए विकल्प और नए प्रकल्प प्रस्तुत करने होगे। अरविंद और मां—आज दोनो ही जीवित नही हैं किन्तु आज भी

सैकड़ो-सैकडो विद्वान् अरविंद के चैत्यपुरुष पर कार्य कर रहे है। अरविंद ने एक नया सिद्धान्त दिया—अतिमानव का निर्माण किया जा सकता है। भू-मण्डल पर ऐसा वातावरण बनाया जा सकता है, जिससे एक दिन चैत्यपुरुष जग जाए, अतिमानव का निर्माण सभव बन जाए। अणुव्रत को भी एक ऐसी आस्था का आधार देना चाहिए, जिससे बुद्धिजीवी और चिन्तक वर्ग का ध्यान आकृष्ट हो। वह आस्था-सूत्र है—वासना का रूपान्तरण किया जा सकता है। क्षयीकरण की बात प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नही है। जो वीतरागता की साधना मे लगे, उसके लिए वासना के क्षयीकरण या उन्मूलन की बात कही जा सकती है किन्तु आम सामाजिक आदमी के लिए यही सूत्र हो सकता है—वासना का रूपान्तरण सभव है।

स्वस्थ वैयक्तिकता

यदि समाज मे वासना के रूपान्तरण की बात व्यापक बन जाए तो समाज का सारा ढाचा वदल जाए। आकृति और कृति—दोनो वदल सकते हैं। आज सबसे वडी आवश्यकता है वासना के रूपान्तरण की। यह व्यक्तित्व का रूपान्तरण है। इससे व्यक्ति और समाज मे समन्वय सधेगा। आज व्यक्ति और समाज—दोनो अलग-अलग पडे हुए हैं। यद्यपि व्यक्ति मे वैयक्तिकता और सामुदायिकता—दोनो के अश विद्यमान हैं किन्तु आज वैयक्तिक चेतना अधिक प्रखर है। जहां सुख-सुविधा की लालसा है, वहा सामाजिकता या सामुदायिकता कहा है? आज वैयक्तिकता को जगाने का प्रयत्न भी कहा है? जव तक व्यक्ति का सम्यक् निर्माण नही होता तव तक समाज का सही निर्माण नही हो सकता। गत वर्षों मे घटी कुछ घटनाओ ने इस तथ्य को और अधिक पुष्ट कर दिया। जो लोग अग्रणी वने, समाजवाद या साम्यवाद के मुखिया वने, साम्यवादी कम्यून के सूत्रधार कहलाए, उनका जीवन देखा तो लोग आश्चर्य से भर उठे। आज भी एक विशाल साम्यवादी देश मे लोकतत्र की हवा चल रही है। उसका कारण यही है—सत्ता पर जो आसीन हैं, वे सुख भोग रहे है, विलास और ऐश्वर्य मे डूबे हुए हैं और आम जनता त्रासदी भोग रही है। यदि स्वस्थ वैयक्तिकता का निर्माण किया गया होता तो यह स्थिति कभी नही वनती। जहां स्वस्थ

व्यक्तित्व का निर्माण नही होता और प्रचुर साधन, सत्ता एव सामग्री आ जाती है, वहा कौन अविचल रहेगा, यह कहा नही जा सकता।

वासना के दास न बनें

आज समाज का ध्यान सबसे ज्यादा इस बात पर केन्द्रित होना जरूरी है—व्यक्तित्व का निर्माण पहले होना चाहिए। समाज का जो मुखिया बने, वह ऐसा व्यक्ति हो, जिसने अपनी वासना पर नियंत्रण करना सीखा है। यदि उसके हाथ मे सत्ता केन्द्रित हो तो खतरा नही होगा। यह अणुव्रत का आधार सूत्र है—बुद्धि के द्वारा वासना पर नियत्रण करना सीखें। व्यक्ति वासना का दास न बने, वासना के पीछे बुद्धि को न चलाए, किन्तु बुद्धि के द्वारा वासना पर नियन्त्रण करे। महावीर का यह सूत्र बहुत मार्मिक है—**अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो**—सबसे कठिन है अपनी आत्मा को जीतना, अपनी वासना को जीतना। अपनी वासना पर नियन्त्रण करो, सुख मिलेगा और वह परलोक मे नही, इसी जीवन मे मिलेगा।

अणुव्रत आदर्श

महावीर का यह सूक्त अणुव्रत का आदर्श है। इसमे अणुव्रत का पूरा दर्शन समाया हुआ है। इस आधार पर व्यक्ति और समाज मे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। सब लोग समाज के निर्माण की बात करते हैं किन्तु समाज-निर्माण से उनका तात्पर्य है—बड़े-बड़े कारखाने लगा दो, मजदूरी दे दो, यह कर दो, वह कर दो। यह आश्चर्य है—व्यक्ति-निर्माण की बात कोई नही करता। क्या व्यक्ति का निर्माण किए बिना कोई योजना सफल हो पाएगी ? जब तक यह स्थिति नही बदलेगी, तब तक परिवर्तन की बात सम्भव प्रतीत नही होगी, अणुव्रत की यह गहरी आस्था और निष्ठा है। हम इस आधार पर समाज रचना की बात करें तो ऐसे समाज और व्यक्ति का उदय होगा, जो भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश के लिए ही नही, पूरे विश्व के लिए उपयोगी होगा, कल्याणकारी और मंगलकारी होगा।

३१. अणुव्रत का दर्शन

व्यक्ति-निर्माण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—संकल्प-शक्ति का विकास। सकल्प-शक्ति कमजोर होती है तो व्यक्ति नीचे उतरता चला जाता है। सकल्प-शक्ति बलवान् होती है तो वह ऊपर उठता चला जाता है। निर्माण का सूत्र है—मनोवल, सकल्प-शक्ति। इस सचाई का हमारे पूर्वजो ने अनुभव किया और उसी आधार पर व्रतो की व्यवस्था की।

आवश्यक है श्रद्धा

आंतरिक सकल्प-शक्ति का एक प्रतिविम्ब है व्रत। भीतर मे चेतना जागृत होती है। उसका वाह्य बिम्व है व्रत। केवल व्रत को पकड़ लिया गया किन्तु उसके परिपार्श्व मे जो था, उसे भुला दिया गया। यह सदा होता रहा है—जो तत्त्व चलता है, उसकी एक वात रह जाती है, परिपार्श्व विलुप्त हो जाता है। भगवान् महावीर ने वारह व्रतो की व्यवस्था दी। यह आचार-शास्त्र का विषय है किंतु भगवान् महावीर का मूल दृष्टिकोण आचार से प्रारम्भ नही होता। उसका प्रारम्भ विन्दु है—सम्यग्-दर्शन। महावीर ने तत्त्व का प्रतिपादन किया। लोगो ने सुना, समझा और इस भाषा मे निवेदन किया—देव ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर रुचि करता हूं, श्रद्धा करता हूं, प्रीति और विश्वास करता हू इसलिए मैं इस धर्म को स्वीकार करता हू। धर्म को स्वीकार करना दूसरे नम्वर की वात है। पहली वात है श्रद्धा और प्रीति करना। सम्यग्-दर्शन विहीन व्रत का स्वीकार वहुत आगे नही वढ़ता। सवसे पहले आवश्यक है श्रद्धा और प्रीति। यदि प्रीति नही है तो स्वीकृत वात भी टिक नही पाएगी। दो तत्त्व हैं—श्रद्धा का स्वीकार और व्रत का स्वीकार। अणुव्रत के सदर्भ मे सम्यग्-दर्शन की वात पर कम वल दिया गया। जो व्यक्ति अणुव्रत को स्वीकार करता है, उसमे पहले श्रद्धा पैदा की जाए, सम्यग्-दर्शन जागे, इस ओर ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है।

अणुव्रत : बारह व्रत

यह प्रश्न स्वाभाविक है—अणुव्रत और बारह व्रत मे अन्तर क्या है ? जब पहले से बारह व्रत की व्यवस्था थी तब अणुव्रत को चलाने की जरूरत क्या थी ? यह स्पष्ट है—बारह व्रत का जो सम्यग् दर्शन है, वह जैन तत्त्व-ज्ञान पर आधारित है। जैन तत्त्व-ज्ञान मे श्रद्धा होती है तो बारह व्रतो का स्वीकार होता है, इसलिए बारह व्रतो की व्यवस्था जैनो तक ही सीमित रही। जो महावीर के अनुयायी थे या जिन्होने बाद मे जैन धर्म स्वीकार किया, उनमे श्रद्धा जागी और बारह व्रत स्वीकार किए गए। इन बारह व्रतो की पृष्ठभूमि मे षट्द्रव्य, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि का पूरा दर्शन जुडा हुआ है। यदि पूछा जाए—अहिंसा का व्रत क्यो स्वीकार किया जाता है तो जैन व्यक्ति का उत्तर होगा—आश्रव के द्वारा कर्म का बध होता है। मैं अहिंसा अणुव्रत को इसलिए स्वीकार कर रहा हूं कि आश्रव का निरोध हो, सवर की चेतना जागे। जब तक व्यक्ति आश्रव और सवर को नही जानता तब तक व्रत के स्वीकरण का कोई अर्थ नही होता और उसे स्वीकार किया भी नही जाता। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष—इन नौ तत्त्वो को जानने के बाद ही व्रतो की स्वीकृति होती है। कहा गया—जो इन तत्त्वो को नही जानता, वह व्रतो को कैसे स्वीकार करेगा ? इसका तात्पर्य है—व्रत-स्वीकृति से पहले जरूरी है तत्त्वज्ञान।

असांप्रदायिकता का रहस्य

अणुव्रत के साथ यह शर्त जुडी हुई नहीं है, उसे कोई भी स्वीकार कर सकता है। व्यक्ति ने देखा—आचार-सहिता अच्छी है, उद्देश्य कल्याणकारी है और वह अणुव्रती बन गया। यह अन्तर स्पष्ट है—बारह व्रत जैन तत्त्वज्ञान के आधार पर स्वीकृत व्रत है और अणुव्रत सामाजिक सदर्भ मे स्वीकृत व्रत। यद्यपि अणुव्रत का भी अपना एक सम्यग् दर्शन है, तत्त्वज्ञान है। जब तक अणुव्रत का सम्यग् दर्शन स्पष्ट नही होगा, अणुव्रती बनने वाला भी कमजोर होगा और अणुव्रत का सम्यक् परिपाक भी नही होगा। अणुव्रत का सम्यग् दर्शन किसी सम्प्रदाय पर आधारित नही है। उसके लिए न चार आर्य सत्य का ज्ञान जरूरी है और न नवतत्त्व का। अणुव्रत

की असाप्रदायिकता का रहस्य यही है कि वह किसी सप्रदाय विशेष के दर्शन पर आधारित नही है। यदि अणुव्रत के साथ जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान जोड दिया जाता तो यह केवल जैनो के लिए ही उपयोगी होता। हम इसे जैन-अजैन सबके लिए मानते हैं, इसलिए जैन तत्त्वज्ञान इसके साथ जुड नही सकता। इस दृष्टि से अणुव्रत किसी का नही है और जब किसी का नही है तो वह सबका है। यद्यपि अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, इच्छा परिमाण आदि शब्द लिये हैं किन्तु तत्त्वज्ञान नही लिया, दर्शन और आचार नही लिया इसीलिए अणुव्रत असाप्रदायिक उपक्रम है।

सांप्रदायिक का तात्पर्य

साप्रदायिकता का मतलब क्या है? जिस किसी सप्रदाय की पूजा पद्धति, उपासना पद्धति और तत्त्वज्ञान के साथ जो पद्धति जुडी होती है, वह साप्रदायिक होती है। अणुव्रत के साथ ऐसा कुछ भी जुडा हुआ नही है। समस्या यह है—यदि जैनो का होता तो जैन लोग इसे सभाल लेते। लाभ यह है—यदि जैनो का होता तो अन्यान्य लोगो को सकोच होता। अणुव्रत के साथ जो व्यापक जनमत जुडा है, वह उसकी असांप्रदायिक दृष्टि से प्रभावित होकर जुडा है।

ज्ञान का सार है आचार

सबसे पहले अणुव्रत का तत्त्वज्ञान स्पष्ट होना चाहिए। एक ग्रन्थ लिखा गया 'अणुव्रत दर्शन'। इसी श्रृखला में 'अणुव्रत : गति प्रगति', 'अणुव्रत के आलोक मे' आदि ग्रन्थ प्रकाश मे आए। इन ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन जरूरी है। जिस काम को हम करना चाहते हैं, उसका पूरा ज्ञान नही है तो कोई फायदा नही होगा। जब तक कार्य के प्रति श्रद्धा नही होगी, कार्य आगे नही बढेगा। श्रद्धा और प्रीति को पैदा किए बिना आचरण की सभावना नही की जा सकती। पहले आचरण की बात मत करो, उसका ज्ञान करो। यह किसी अपेक्षा से कहा गया था—**आचारः प्रथमो धर्मः**—आचार प्रथम धर्म है किन्तु एक अपेक्षा यह है—**पढम नाणं तओ दया।** पहले ज्ञान और फिर आचार। ज्ञान का सार है आचार। जो आचार फलित होता है, उसके लिए दृष्टिकोण का निर्माण करना चाहिए। दृष्टि का निर्माण नही होगा तो व्रत का स्वीकार नही

होगा। यदि होगा भी तो बहुत ढीला-ढाला होगा। यदि दृष्टिकोण स्पष्ट होगा तो उसके प्रति प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न होगी। वह जीवन की आस्था बन जाएगी। वह व्रत टूटेगा नही, जीवन का अग बन जाएगा।

अणुव्रत का सम्यग् दर्शन

प्रश्न है—अणुव्रत का तत्त्वज्ञान क्या है ? इस संदर्भ में पदार्थ और चेतना—इन दो बातो को समझना होगा। यदि दृष्टिकोण में पदार्थ प्रधान है और चेतना गौण है तो उसका परिणाम होगा—मानसिक तनाव, अपराध, हिंसा, अशांति आतक आदि। जिसने पदार्थ को प्रधान मान लिया, उसके आकर्षण का विपय वही बनेगा। पदार्थ प्रधान और चेतना गौण, यह अणुव्रत तत्त्वज्ञान का मिथ्या दर्शन है। आज की सारी समस्याओ का कारण है पदार्थ को प्रधान मान लेना। जमीन के छोटे से भू-भाग के लिए दो भाई लड़ते हैं, पांच-दस हजार रुपयो के लिए कोर्ट मे मामले-मुकदमें कर देते हैं। ऐसा क्यो होता है ? इसलिए कि उन्होने पदार्थ को प्रधान मान लिया, चेतना पर आवरण डाल दिया। जहा दृष्टिकोण पदार्थमय होता है, वहा संघर्ष होता है, विवाद, कलह तथा नाना प्रकार की समस्याए पैदा होती हैं। एक आदमी चोरी करता है। चोरी से चेतना नीचे जाती है, इसका उसकी दृष्टि मे कोई मूल्य नही है, किन्तु उससे धन मिलता है, इसका मूल्य है। जितने भी अपराध हैं, उनकी पृष्ठभूमि मे यह पदार्थवादी दृष्टिकोण है।

अणुव्रत का सम्यग् दर्शन है—जहां चेतना प्रधान और पदार्थ गौण होता है, वहा समस्या का समाधान है। चेतना शुद्ध रहे, पवित्र रहे, यह दृष्टिकोण प्रमुख होगा तो मानसिक शाति बढेगी, अपराध कम होगे, हिंसा कम होगी।

मार्क्स और महावीर की कल्पना

मार्क्स ने दृष्टिकोण दिया व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उन्होने राज्यविहीन समाज (Stateless society) की कल्पना प्रस्तुत की। यह अहिंसात्मक दृष्टिकोण था। शक्ति और दण्ड के बल पर ऐसी कल्पना कभी नही की जा सकती। ऐसी ही कल्पना भगवान् महावीर ने की। उन्होने इसके लिए कल्पातीत शब्द का प्रयोग किया। एक शब्द है—अहमिन्द्र—मैं इन्द्र हू। यह कल्पना की

गई—कोई स्वामी नही है। वही सेवक है और वही इन्द्र। इस व्यवस्था का नामकरण किया गया—अहमिन्द्र। ऐसी ही कल्पना साधु के लिए प्रस्तुत की गई। मुनि साधना करता है, कल्प मे रहता है। साधना करते-करते ऐसी स्थिति मे पहुच गया, कल्पातीत हो गया। तीसरी स्थिति है, यौगलिक मनुष्यो की। वे भी कल्पातीत हैं। कोई व्यवस्था नही, सब कुछ स्वतः सचालित। यह अपना अनुशासन, आत्मानुशासन का जो दर्शन महावीर ने दिया, उसका आधार यह था—जिनका कषाय उपशान्त होता है, अल्प संक्लेश होता है, वहां ऐसी स्थिति वन सकती है।

स्वार्थ और परार्थ का सामंजस्य

महावीर और मार्क्स के चिन्तन मे अन्तर हो सकता है किन्तु उसका जो निष्कर्ष है, वह शासनविहीन राज्य की कल्पना है। ऐसी कल्पना करना भी अपने आपमे वहुत वडी वात है। यह अणुव्रत के साथ जुडा हुआ दर्शन है—व्यक्तिगत स्वामित्व न हो, स्वार्थ का विलीनीकरण हो जाए। अणुव्रत के तत्त्वज्ञान का सम्यग् दर्शन है स्वार्थ और परार्थ का सामजस्य। व्यक्तिगत स्वामित्व व्यक्ति की एक मौलिक मनोवृत्ति है। अणुव्रत के सदर्भ मे स्वार्थ को परमार्थ की भूमिका तक ले जाएं और उसे विस्तार देकर पदार्थ के साथ जोड़ दें। वेदान्त मे एक ब्रह्म की वात कही गई। चेतना को इतना व्यापक वना लो कि ब्रह्म एक है। यदि यह दृष्टिकोण वन गया तो वुराई के लिए अवकाश नही रहेगा। जैन दर्शन मे आत्म-तुला की वात कही गई—सवको अपने समान समझो। इसमें भी वुराई के लिए कोई अवकाश नही है। ये स्वार्थ से परार्थ की ओर ले जाने वाले तत्त्व थे, पर इन दर्शनों के प्रति प्रीति पैदा नही की गई। सव जीव समान हैं पर सव जीवों के प्रति श्रद्धा कितनी है! क्या यह प्रश्न मन मे कभी उभरता है? यदि इनके प्रति श्रद्धा गहरी हो जाए तो क्या किसी के प्रति अप्रिय व्यवहार हो सकता है?'

दृष्टि : सृष्टि

किसी सिद्धान्त को मानना अलग वात है किन्तु उसमे प्रीति या श्रद्धा होना अलग वात है। आज मूल आवश्यकता है—प्रीति

पैदा की जाए, चेतना के प्रति श्रद्धा और आकर्षण पैदा किया जाए। व्यक्ति ने अपनेपन की सीमा अपने परिवार तक ही बना ली, उसका दायरा बहुत छोटा बन गया है। उस सीमा को विस्तार दिया जाए। अणुव्रत के तत्त्वज्ञान का सम्यग्-दर्शन है—स्वार्थ और परार्थ का सामंजस्य। चेतना और स्वार्थ के विस्तार के प्रति श्रद्धा जागेगी तो व्रत को ग्रहण करने की भावना स्वत. जाग जाएगी। बारह व्रत का स्वीकार उन लोगो ने किया, जिनके मन मे महावीर के दर्शन के प्रति श्रद्धा पैदा हुई। अणुव्रत को भी वह स्वीकार करेगा, जिससे मन मे अणुव्रत के तत्त्वज्ञान के प्रति प्रीति जगेगी। हम एक नई दृष्टि का निर्माण करें। दृष्टि का निर्माण होगा, तो सृष्टि का निर्माण अपने आप हो जाएगा। व्यक्तित्व के निर्माण का यही रहस्य-सूत्र है।

३२. धर्म और आज का युवा मानस

एक युवक से पूछा—धर्म की आराधना करते हो ? उत्तर मिला—मैं आवश्यक नही मानता ।

दूसरे युवक से पूछा—धर्म की आराधना करते हो ? उसने तपाक से कहा मेरी इसमे रुचि नही है ।

तीसरे युवक से वही प्रश्न पूछा । उसका उत्तर था—मैं धर्म को आवश्यक मानता हू । मेरी उसमे रुचि भी है, पर क्या करू । बहुत व्यस्त हू । धर्म की आराधना के लिए समय नही निकाल पाता ।

त्रिपदी

अनास्था, अरुचि और व्यस्तता—इन तीनो समस्याओ मे उलझा हुआ है आज का युवा-मानस । तीसरी समस्या जटिल नही है । प्रथम दो समस्याए जटिल है । समय के नियोजन का सूत्र हाथ लग जाए तो व्यस्तता की समस्या का समाधान हो जाता है ।

मैंने एक युवक से पूछा—तुम्हारे पास शरीर और मन—ये दो प्राण-तत्त्व हैं । शरीर वहुत सवल है और मन दुर्बल है । क्या यह स्थिति वाछनीय है ?

युवक—कभी नही, यदि मन दुर्बल है तो शरीर कोई वडा काम नही कर पाएगा ।

मैंने इस वात को आगे वढाया—किसी व्यक्ति का शरीर दुर्बल है और मन सवल एवं प्रवल है । इस स्थिति मे क्या होगा ?

युवक—यदि मन प्रवल है, तो शरीर की दुर्बलता उतना कष्ट नही देगी जितना कष्ट दुर्बल मन वाले को देती है ।

अगला प्रश्न था—तुम शरीर को वलवान् रखने के लिए कितना समय लगाते हो ?

वह वोला—शरीर की देखभाल मे घटो का समय लगता है, मन के लिए कुछ भी समय नही लगता ।

'क्या यह उचित है ?'

इस प्रश्न के उत्तर मे युवक ने कहा—अब बात समझ मे आ गई। मैं मन को स्वस्थ रखने के लिए भी समय लगाऊंगा। उसने आगे कहा—मैं बहुत व्यस्त हू, मेरे पास समय नही है। ये सब बहाने हैं। मूल बात यह है—धर्म की आवश्यकता समझ मे नही आती तो उसके लिए समय का नियोजन नही होता।

बोध हो उपयोगिता का

धर्म का अर्थ है अपने कषायो (क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि) पर नियत्रण करना, नियत्रण की शक्ति के विकास की साधना करना। अदृश्य या अगम्य के प्रति अनास्था हो सकती है। अपनी वृत्तियो पर नियत्रण करना जीवन के लिए श्रेयस्कर है। यह दृश्य और बुद्धिगम्य है। मानसिक तनावमुक्ति और मानसिक शाति का जीवन जीने के लिए यह आवश्यक है। इसमे अनास्था का प्रश्न कहा है ? जो लोग धर्म के प्रति अनास्था की बात कहते है, वे धर्म का हार्द समझे विना ही कहते हैं। आत्मा, परमात्मा जैसी बुद्धि से अगम्य तत्त्वो के प्रति अनास्था हो सकती है किन्तु मन और भावना के स्तर पर धर्म की बात करते है, वहां अनास्था का प्रश्न कैसे हो सकता है ? अरुचि को रुचि मे बदला जा सकता है। उपयोगिता का बोध और सम्यग् सम्पर्क—ये दोनो अरुचि को रुचि मे बदल देते है। पर्यावरण का प्रदूषण न हो, हिंसा की बढत रुके, आतकवादी प्रवृत्तिया न हो, शोषण न हो—समाज की भूमिका मे ये सारी बाते कही जा रही हैं, क्या ये धर्म की बातें नही है ? कोई भी व्यक्ति और समाज अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकातात्मक धर्म के विना स्वस्थ नही रह सकता, इसलिए धर्म का नाम लें या न ले, धर्म की सचाई को स्वीकार करना ही होता है।

ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग

जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है—अनेकात। उसे हृदयगम कर सत्य को जाना जा सकता है, जीया जा सकता है। जीवन एक सचाई है। सब लोग जी रहे है। उस सचाई को समझने के लिए अनेकान्त की दृष्टि का प्रयोग आवश्यक है। एक सामाजिक प्राणी काम और अर्थ के महासागर का एक द्वीप है। यदि जीवन की यही सीमा हो तो चारों ओर कामनाओ का जल है और वह

द्वीप तूफानी तरगो से आक्रात होने के लिए विवश है।

जीवन गतिशील है। उसमे विकास की अनत संभावनाए और असीम क्षमताए हैं। वह कामना के जल से ऊपर उठ सकता है, ऊर्ध्वारोहण कर सकता है। ऊर्ध्वारोहण के दो पथ हैं धर्म और मोक्ष। इनके द्वारा जीवन का उन्नयन होता है।

जीवन की समग्रता : चार आयाम

सामाजिक प्राणी के जीवन की समग्रता को चार आयामो मे देखा जा सकता है —

(१) कामना का जीवन
(२) अर्थ का जीवन
(३) धर्म का जीवन
(४) मोक्ष का जीवन

इन चारों आयामो मे जीने वाला सामाजिक प्राणी समग्रता का जीवन जीता है। वह कोरा धार्मिक नही है, सामाजिक भी है। वह कोरा सामाजिक नही है, धार्मिक भी है। उसे दोनो क्षेत्रो मे काम करना पडता है। उसके लिए अपेक्षित है—धार्मिक चेतना के साथ सामाजिक चेतना का विकास और सामाजिक चेतना के साथ धार्मिक चेतना का विकास। यह है जीवन का सतुलित विकास। वैदिक आचार्यों ने काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष की सीमा का निर्धारण किया है। समग्रता की दृष्टि से वह वहुत सार्थक है। काम की सीमा है—वह अर्थ को वाधित न करे। अर्थ की सीमा है—वह काम को वाधित न करे। अर्थ और काम की सीमा है—वे धर्म को वाधित न करे। धर्म की सीमा है- वह काम और अर्थ को वाधित न करे। ये तीनो पुरुपार्थ परस्पर अवाधित होकर वाधा उत्पन्न नही करते। यह पुरुषार्थ चतुष्ट्य के विषय मे वैदिक व्यवहार है। सामाजिक प्राणी इन चारो की सापेक्षता से ही स्वस्थ और सतुलित जीवन जी सकता है।

समस्या है असंतुलित जीवन-शैली

वर्तमान जीवन-शैली असतुलित है। वह काम और अर्थ से अधिक प्रभावित है। धर्म और मोक्ष उपेक्षित हो रहे है। उसी का परिणाम है स्वार्थ का एकछत्र साम्राज्य। युग है समाजवाद का। सामाजिक चेतना और सहकारिता की वृत्ति को वढाने का स्वर

मुखर हो रहा है । दिये के तले अंधेरा है । व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक पनप रहा है । धर्म की चेतना का सतुलित विकास होता तो स्वार्थ इतना निरकुश नही होता । अर्थ इतना प्रधान हो गया है कि उसके लिए व्यक्ति करणीय और अकरणीय की भेदरेखा को भुला चुका है । मानवीय सबंधो की मधुरिमा अम्लता में वदल गई है । करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है । क्रूरता ने सब दिशाओ मे अपने पैर पसारे है । परिणामस्वरूप पारिवारिक कलह बढे हैं । समर्थ के द्वारा असमर्थ का शोषण हो रहा है । मालिक और कर्मचारियो के सबधो मे तनाव व्याप्त है । मनुष्य का स्तर इतना नीचे चला गया है कि उसे पर्याप्त दहेज न मिलने पर एक जीवित युवती को जलाने में भी सकोच नही होता । जहा अर्थ की प्रधानता हो, वहां सब कुछ हो सकता है, कुछ भी असंभव नहीं है । स्वार्थ ने अर्थ-प्रधान दृष्टिकोण का निर्माण किया है अथवा अर्थ-प्रधान दृष्टिकोण ने स्वार्थ का निर्माण किया है, इसकी खोज करनी होगी ।